

बहू-जुठाई
(कहानी-संग्रह)

बहू-जुठाई

रमणिका गुप्ता

शिष्यायन

पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

दिल्ली-110032

ISBN 978-81-90693-9-1

© रमणिका फाउंडेशन

प्रकाशक

शिल्पायन

पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

दूरभाष : 011-22881174

मूल्य

200.00

संस्करण

2010

आवरण

उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन

उमेश लेज़र प्रिंट्स, दिल्ली

मुद्रक

रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

BAHU-JUTHAI (Collection of Stories)

Written by Ramnika Gupta

क्रम

भूमिका : खटने कमाने वाली औरतें	7
चिड़िया	13
चमेली	18
बहू-जुठाई	27
चन्दा मर नहीं सकती	44
परबतिया	63
जिरवा और जिरवा माय	76
प्यारी	96
खुश रहो	105
ज़िन्दा रहने के लिए	116
ललिता	126
वह जिएगी अभी	135

खटने कमाने वाली औरतें

ये कहानियाँ लंबे समय के अन्तराल को कवर करती हैं पर इनमें से अधिकांश कहानियों का भूगोल बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र (अब झारखण्ड) से जुड़ा है। भारत के हर कोने का भूगोल ऐसी कहानियों से पटा पड़ा है पर लोग शायद इन्हें खोजते ही नहीं या अनदेखा करते हैं। ये एक लम्बे अंतराल के दौरान बीच-बीच में लम्बी चुप्पी के बाद लिखी गई कहानियाँ हैं। मूलतः मैं कविता ही लिखती रही हूँ। हाँ, किस्सागोई की आदत ज़रूर है किन्तु मैं उसे लिपिबद्ध नहीं करती थी। कोई प्लॉट बहुत ही व्यथित करता था, तो उसे लिख लेती थी। कभी-कभी तो महीनों, वर्षों, कोई घटना, कोई पात्र, कोई नायिका, कोई वाक्य मन को मथता रहता था। उसका लिखना अनिवार्य हो जाता, तभी कलम उठाती।

मेरी कहानियाँ मेरी कविताओं की तरह ही प्रेरणा आधारित रही हैं। मेरी कहानियों की प्रेरणा-स्रोत भी स्वयं इन कहानियों की सजीव, जीवित नायिकाएँ रही हैं। नायिकाएँ, जो जीवन की विपरीत स्थितियों में बर्बरताओं और समाज की विकृतियों को झेलतीं, उससे जूझती रहीं, कभी थकी नहीं। उनमें अपनी अस्मिता का जबर्दस्त अहसास था और था अपने होने का, अपने को ज़िन्दा रखने का पत्थर-सा ठोस संकल्प। उनमें ज़िन्दा थी अपनी शर्तों पर जीने की जिद, तो कहीं अपनी निर्मिति का हठ। मुझे उनमें कहीं अपनी प्रतिच्छाया नज़र आती थी, शायद इसीलिए मुझे वे आकर्षित भी करती थीं। ये चलती-फिरती नायिकाएँ मेरे नारी-अस्मिता के संघर्ष और मेरे अनुभव क्षेत्र से जुड़ी रही हैं।

झारखण्ड के छोटानागपुर की वादियों और जंगलों की इन आदिवासी

औरतों ने उन दिनों रेल भी नहीं देखी थी। 1973 में कोयला खदानों के सरकारीकरण के पहले और बाद, मुख्यधारा के लोगों के साथ मेल-जोल के कारण वे एक मिली-जुली संस्कृति की, विकृतियों का शिकार तो बनती ही थीं, उसके साथ वे अपने अन्धविश्वासों का शिकार भी होती थीं। अपनी संस्कृति की ढीली होती पकड़ ने उनके समाज को भी लुँज-पुँज बना दिया है। इन मूल निवासियों ने मुख्यधारा के लोगों की विकृतियाँ तो ग्रहण कर लीं, जिससे उनकी सीधी-सादी संस्कृति अप्रासंगिक होती गई या फिर मुख्यधारा के लोगों ने ही उनकी सीधी-सादी स्वच्छन्द संस्कृति को विकृत रूप में ग्रहण कर, उनका आर्थिक और दैहिक शोषण किया।

इन दोनों प्रवृत्तियों की सबसे अधिक शिकार हुई औरत। हॉ औरत! सामाजिक-आर्थिक या कभी-कभी राजनीतिक स्तर पर यह आदिवासी औरतें कभी जिरवा माय सी डसी जाती हैं, तो कभी प्यारी की तरह छली, चमेली की तरह ठगी जाती हैं या फिर परबतिया की तरह समझौता करने पर मजबूर की जाती हैं। कोई-कोई तो चन्दा की तरह समझौता करते-करते अनर्थ को टालती रहती हैं। अन्त में जब उनका स्वाभिमान जागता है तो वे असम्भव से टकरा जाती हैं और एक उदाहरण बन जाती हैं। कतिपय जिरवा की तरह पुरुषों के हथकंडों का इस्तेमाल कर उन्हें मात देकर अपनी पहचान बनाती हैं। प्यारी हो या परबतिया, चन्दा हो या चमेली, ये अपनी पहचान बनाने को सदा आतुर रहती हैं। वक्ती समझौते इन नायिकाओं को न परास्त करते हैं न हतोत्साहित। ये सुनिश्चित जीत की उत्कट आशा लेकर जूझती रहती हैं। वर्तमान जो सामने है को ये जी भर कर जीती हैं। ये सभी खटने-कमाने वाली औरतें हैं कोयला ढोती, लकड़ी काटती, निकौनी-कटनी करती, खेती करती या सब्जी बेचती अथवा रेज़ा (कुली) का काम करती, बालू-ईंट ढोती औरतें।

ललिता जैसी दलित युवतियाँ स्वयं अपनी विकृत परम्पराओं और रूढ़ियों से ग्रस्त समाज की शिकार होती हैं, जो अशिक्षित एवं मनुवादी है। यह दलित समाज है लेकिन गैर दलित उच्च वर्गीय समाज की विकृतियों को आदर्श मानकर उनकी नकल करता है। ललिता उस प्रवृत्ति की भी शिकार है। वह एक औरत, एक लड़की, एक बेटी होने की त्रासदी तो भुगतती ही है, साथ ही हिन्दुवादी ब्राह्मणवादी मानसिकता

की भी मार उस पर पड़ती है, जिसमें प्रेम करना वर्जित है जिसमें कम उम्र में शादी होना ज़रूरी है, जिसमें औरत होना अपराध है। दलित होने के कारण वह तिहरे शोषण के लिए अभिशप्त है।

हाँ 'बहू-जुठाई' एक पूरे समाज की परिवर्तनशीलता की कहानी है। दलित समाज जो खुद को कर्म का, भाग्य का फल भोगने के लिए सब अपमानों को सम्मान मानने के लिए अभिशप्त है 'बहू-जुठाई' कहानी उस समाज के मनुष्यता प्राप्त करने की दास्तान है। बाबा साहब अम्बेदकर के शब्दों में जब उसे यह ज्ञान हुआ कि वह गुलाम है तो उसने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसे जब इलहाम हुआ कि वह मनुष्य है उसे जब ज्ञान हुआ कि दुःख क्या है तो उसमें मनुष्यता की पहली शर्त अभिव्यक्ति की शक्ति और स्वतंत्रता पाने का अहसास जगा और उसमें जगी स्वाभिमान की भूख अस्मिता की अभिलाषा।

शिक्षा ने उसे सोच दी, संघर्ष ने हौसला और संगठन ने बल, और उस 'पशुतुल्य' जूठन पर जीने वाले समाज ने फैसला किया कि बहू की डोली पहली रात ज़मींदार के घर 'जुठाने' के लिए नहीं जाएगी। जो जीवन भर 'जी हज़ूर' 'हुक्म हज़ूर' कहते रहे, वे मनुष्यता की बोली में गरज उठे 'नहीं जाएगी डोली'। वे अपनी बोली की गरज सुन कर चकित थे। अभिव्यक्ति की यह ताकत जानवर बना दिए गए मनुष्यों ने कैसे हासिल की 'बहू-जुठाई' कहानी में इसी संघर्ष की गाथा है। 'ज़िन्दा रहने के लिए' कहानी भी एक ऐसी जमात की कहानी है जो विस्थापन, शहरीकरण का शिकार हो कर ज़िन्दा रहने के लिए जंगलों को काट-काट कर कौड़ी के मोल शहर पहुँचा रही है। जो दारू-हँडियाँ का धन्धा करती है। वह ऐसा इसलिए नहीं करती कि ये उसका पुश्तैनी धन्धा है, बल्कि इसलिए करती है कि जीने के लिए दूसरा विकल्प नहीं है। जीने की मजबूरी हो तो चोरी की भी परिभाषा बदल जाती है।

यह सब झारखण्ड के छोटानागपुर के हरे-भरे पहाड़ों, झरनों, नदियों से घिरे वन प्रान्तर में होता है। खनिजों का राजा, हीरे का पिता कोयला यहाँ राज करता है। उन कोयला खदानों में, जंगलों में मज़दूरों की बस्तियाँ जगह-जगह से आए मज़दूरों की मिली-जुली संस्कृति, एक अजब समौ बनाती हैं। यहाँ भाषा भी भिक्षु की खिचड़ी-सी है। यहाँ अन्धविश्वासी, रूढ़िवादी, अशिक्षित समाज के लोग जहाँ आधुनिक तकनीक और नई-नई मशीनों से रू-ब-रू होते हैं, वहीं वे उनके शिकार

भी होते हैं। कैसे आधुनिकता और रूढ़िवादिता को एक साथ ओढ़े ये लोग, अपने घर की दहलीज के भीतर कहीं अलग हो जाते हैं। घर के बाहर एकता के नारे लेकिन दहलीज के अन्दर सोचने का वही जातिवादी ढंग? लोकल (स्थानीय) और बाहरी, नया-पुराना, ऊँच-नीच, 'छोट-जात', 'बड़-जात।' सब घालमेल, गड्ढमड्ढ। पीसरेटिड, टाइमरेटिड, मंथलीरेटिड में बँटे कुशल-अकुशल मज़दूर, केवल पदनाम के स्तर पर ही नहीं, अपनी मानसिकता के स्तर पर भी ऊपर से प्याज की तरह एक, पर भीतर परत-दर-परत बँटे-बँटे हैं। स्वार्थों की टकराहट में चट्टानी एकता टूटती है पर उसमें पिसती है सबसे अधिक औरत। यहाँ हर समाज की तरह मर्द औरत का एक और बँटवारा भी व्याप्त है। चाहे मज़दूर समाज हो, चाहे किसान, सर्वहारा हो, चाहे मध्यम या उच्च, चाहे छोट-जात हो या बड़-जात, विश्व का पुरुष-अहम् औरत को एक ही नज़र से देखता है वह है उसका यौन-आकर्षण। औरतें स्वयं भी इस पुरुष-दृष्टि को पोसती हैं। जो इसका विरोध करती हैं वे सीता-प्यारी-चमेली-परबतिया-जिरवा या मौसी बन जाती हैं। ये सर्वहारा औरतें आज भी जुए में हारी जाती हैं डायन बता कर मार दी जाती हैं इसके बावजूद ये संघर्ष करना खूब जानती हैं। वे खटने में माहिर हैं। कटु अभावों से लड़ते-लड़ते वे जीने के लिए जूझना बचपन से ही सीख जाती हैं। यही जिजीविषा उन्हें जीवन का लक्ष्य देती है।

इन कहानियों में 1960 से आज तक के अन्तराल का समय, अपने सन्दर्भों-संस्मरणों, स्मृतियों, बदलती परिस्थितियों एवं बदलाव के साथ ज़िन्दा है। ये सभी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं पर महीनों, वर्षों तक फाइल-बन्द रहने के बाद, कभी जब मुझे फुर्सत मिली या भारत यायावर जैसे किसी साहित्यिक मित्र ने जब इन्हें स्वयं ही निकाल कर छपने के लिए भेज दिया, तभी ये प्रकाश में आईं।

खैर, संकलन आपके सामने है। मैंने ये कहानियाँ स्वांतः-सुखाय नहीं लिखीं। दरअसल रामविलास शर्मा जी के सुझाव से मैंने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करना शुरू किया। उन्होंने कहा था “वर्णनात्मक ही सही पर आप लिखें। उन अछूते लोगों के बारे में, जिनके बारे में, दुनिया नहीं जानती, आप अपने अनुभव दर्ज करें, ये बड़े रोचक ही नहीं, दस्तावेज़ी भी होंगे।” इसलिए ये जो लिखा है सत्य है, यथार्थ है और अनुभवों पर आधारित है। इन नायिकाओं को, इन चरित्रों को, पात्रों को, आप

खदानों में, जंगलों में, हजारीबाग की सड़कों पर, बाजार में सब्जी बेचते या खरीदते अथवा झंडा चौक पर कतार लगाए काम की इन्तज़ार में बैठे 'रेज़ाओं' (महिला कुली) में पहचान सकते हैं। कोयला खदानों में खटने वाली झोड़ा ढोती 'कामिनो' में 'चीह' सकते हैं या वनों से लकड़ी काट कर एन. एच. इकतीस, तीस या जी. टी. रोड पर शहरों-कस्बों की ओर मीलों पैदल जाती औरतों में ढूँढ सकते हैं।

अलबत्ता दो कहानियाँ अलग हैं। इनमें एक, 'चिड़िया' कहानी इस प्रतिस्पर्धी युग में टूटते सम्बन्धों, किसी अकेले पड़ जाने वाले व्यक्ति की कथा है जो एक नायिका दर्ज कर रही है। दूसरी अस्मिता के लिए संघर्षरत एक प्रबुद्ध समृद्ध नेतृत्व करती राजनीतिक स्तर पर हस्तक्षेप करने वाली महिला की कहानी है, जो जोखिम भरी ज़िन्दगी जीने और मृत्यु से कई-कई बार रू-ब-रू होने के बावजूद भी ऑपरेशन से भयभीत है। जो अधूरे काम पूरे करने को लालायित है। जो पिछले स्नेहिल क्षणों को याद कर उनसे ऊर्जा हासिल करती है भविष्य के खतरे दिवास्वप्नों में झेलती है। राजनीति और समाज सेवा उसे परिवार से भी दूर कर देते हैं। बीमारी की अवस्था में वह परिवार से कुछ अपेक्षा रखती है, तो उलाहने सुनने पड़ते हैं। गहमागहमी से भरे अपने व्यस्त जीवन से दूर बीमारी की ये अकेली घड़ियाँ उसे जानलेवा दिखती हैं।

अपनी पहचान के लिए राजनीति व समाज-सेवा के क्षेत्र में संघर्षरत परिवार से दूर बीमारी या एकान्त क्षणों में वह इतनी अकेली हो जाती है कि किसी परिजन के प्यार और स्नेह के दो बोल भी, उसे जीने की आस और ऊर्जा दे देते हैं।

भारतीय राजनीति व समाज-सेवा में रत यह औरत पहचानी जा सकती है एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि जमात के रूप में।

मैं प्रायः लिख तो आधी शताब्दी से भी अधिक समय से रही हूँ पर मैंने प्रकाशन में कभी उतनी रुचि नहीं दिखाई। अब तक जो लिखा या आज तक जो लिख रही हूँ उसे डायरियों और फाइलों से निकालकर पन्नों पर उकेर आप के सम्मुख रख रही हूँ। वर्षों के अनुभव का निचोड़, ज़िन्दगी का सच कड़वा भी, मीठा भी, कठोर पर जरूरी नहीं कोमल हो दृढ़ है सच है ठोस है जीवन्त है जिन्दा है कोरी कल्पनाओं पर नहीं धरती पर जिए हुए अनुभवों पर आधारित है।

रमणिका गुप्ता

चिड़िया

मनिका अस्पताल के स्पेशल वार्ड में भर्ती है। छत पर दो पंखे हैं, एक पंखे के रॉड के ऊपर वाले खोल में, जो छत से सटा है, दो चिड़ियों का घोंसला है। यह भी संभव है कि वे चिड़ा-चिड़ी भी हों पर न जाने क्यों दोनों एक साथ नहीं बैठते। चकवा-चकवी की तरह अलग-अलग ही रहते हैं। एक, जो मादा दिखती है, घोंसले में घुसी है दूसरा जिसे शायद चिड़ा कहना ही ठीक होगा हालाँकि वह मादा चिड़ी से छोटा दिखता है, घोंसले के बाहर पंखे के खोल पर ही बैठा अन्दर की आहट सुन रहा है।

एकाएक चिड़िया उड़ कर कमरे के बरामदे में खुलने वाले दरवाज़े, जो कमरे के अन्दर की तरफ खुला था पर बैठ गई। फुदक कर चिड़ा ठीक दूसरे पल्ले पर बैठ गया। फट से चिड़िया दरवाज़े से उड़ी, जैसे कहीं स्प्रिंग दब गया हो। वह पंखे के पंख पर बैठ, अपनी चोंच रगड़ने लगी। चिड़ा भी ऐन उसी वक्त उड़ा और पंखे के ऊपर आ बैठा। आँख-मिचौनी या 'उड़ा-उड़ी' का उनका यह खेल देर तक चलता रहा।

चिड़ा इसका बेटा है या पति मालूम नहीं, चूँकि पशु-पक्षियों में बेटा बड़ा होकर पति बन जाता है और अपनी नस्ल बढ़ाता है। भेद केवल नर-मादा का होता है, चिड़ियों में वह भी पता नहीं चलता। उन में रिश्ते नहीं होते। चिड़िया अंडे देती है। वह अपने शरीर की सारी ऊर्जा और ऊष्मा समेट अंडों में साँस भरती है, जिसकी गर्मी से अंडे टूटते हैं और पैदा होते हैं नन्हें-नन्हें बच्चे, कोमल-कोमल, भोले-भोले, शक्तिहीन पंखों, मखमली रोंएदार डैनों, नन्हीं चोंच, छोटे पंजे और बन्द पंखों वाले। चिड़िया अपनी चोंच से उनकी चोंच में दाना डालती है, खिलाती है और

उन्हें पालती है। वह पानी को भी अपनी चोंच में ही भर कर उन्हें पिलाती है। वह अपने डैने खोलती है और उन्हें उड़ना सिखाती है।

जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो वे नर बन कर उसकी चोंच में चोंच डालते हैं। और डाल देते हैं उसके गर्भ में बीज। बीज अंडे बन जाते हैं और अंडे बच्चे। यह चक्र चलता रहता है। कुम्हार के चाक की तरह, प्रजनन की धुरी पर घूमता रहता है।

यह तो आदमी ने जब से अपने अगले दो पाँव हाथों में बदल डाले और मस्तिष्क में विचार और मुँह में बोली भर ली, तो उसने रिश्ते गढ़ लिए, चिन्ताएँ पाल लीं, सपने और आकांक्षाएँ रच लीं। हालाँकि रिश्ते गढ़ने में उसने भी सदियाँ लगाईं! अब तो आदमी, आदमी नहीं बस मात्र एक रिश्ता रह गया है। वह एक सोच, एक चिन्ता, एक घेरा या दायरा बन गया है।

अचानक दोनों चिड़ा-चिड़ी कमरे के फर्श पर एक साथ कुछ सूँघते हुए चलने लगे। कुछ दाने मिले जिसे वे एक साथ चुगने लगे। ये पक्षी भी अजीब हैं। खाने के वक्त, प्यार के वक्त, उड़ने या मरने के वक्त, एक साथ देखे जाते हैं पर किसी को बीमार के पास बैठे नहीं देखा! बीमार पड़ने पर बाकी सब पक्षी उसे अकेला छोड़ जाते हैं नितान्त अकेला और हाँ, मर जाने पर तो वे मृतक को चोंच से छूते भी नहीं। चोंच केवल खाने-खिलाने, प्यार करने या देह धोने, पंख झाड़ने के काम आती है। मरने पर वे उसके इर्द-गिर्द मँडराते खूब हैं। चूँ-चूँ-चच, चीं-चीं-चच करके बहुत शोर मचाते हैं। कौवे तो काँव-काँव कर सिर पर आसमान उठा लेते हैं पर चिड़ियों की तो बोली भी और शरीर भी छोटा है न। आसमान नहीं गूँजता उनकी चक-चक, चीं-चीं से। उनके रोने, चहकने और शोर में कोई फर्क भी तो मालूम नहीं पड़ता।

बीमार चिड़िया की भी अजीब स्थिति होती है। वह घोंसले से निकल उड़ना चाहती है। अगर कमरे में हुई तो उड़ने पर कमरे की दीवारों से टकरा जाती है। पेड़ पर हुई तो टहनियों में अटक जाती है। वही हाल आज मणिका के कमरे की चिड़िया का हो रहा है। वह उड़ी तो दीवारों से टकरा गई। थक कर पंखे की रॉड पर जा बैठी। वह रॉड पर बैठी चिड़ियों के साथ उड़ना चाहती थी, पर...। चिड़ा चिड़ियों की उसी ऊर्जावान कतार के साथ उड़ जाता है। फुर्र र्र र्र! भीगी-भीगी आँखों से चिड़िया परों को फैलाए, शरीर को फुलाए, आकाश की ओर देखती रह

जाती है। वह, मुँह ऊपर उठाए नीले आकाश को, जिसकी नीलाइयों के घनत्व और गहराईयों के विस्तार में वह खो जाती थी ताकती रह जाती है। वही नीला आकाश, जहाँ कभी वह फर् से उड़ कर छिप जाया करती या मुक्त हवा पीती और बादलों को अपने डैनों से गुदगुदाने का दम भरती।

वह कतार में सब से आगे रहती थी। वर्षा में भींग कर परों को झाड़ना, झिटकना, चोंच से रगड़ना, शरीर फुला कर पूँछ हिलाते, फुदकते चलना, उसे कितना भाता था! रेंगने वाले कीड़े उसे कभी पसन्द नहीं आते थे! नज़र पड़ते ही वह उन्हें चोंच से ठोंग देती थी। जो मुक्त आकाश में मुक्त उड़ती थी, आज उसे नीला-नीला आकाश दूर होता नज़र आ रहा है। हवा उसे बिना छुए उसके पास से सरके जा रही है। हवा के बिना उसकी साँसें घुट रही हैं। वह पंख फैलाना चाहती है पर पंख फैल नहीं पाते। डैने अशक्त हो झुक गए हैं, उसके रोएं कुम्हला गए हैं। साँसें उखड़ गई हैं। आँखें मुँद रही हैं। उसे अंडों से निकलते अपने बच्चों का चेहरा याद आ रहा है।

वह रॉड पर बैठी ही रह जाती है। घोंसले में अंडे पड़े हैं। वह उड़ कर घोंसले में आ जाती है जहाँ उसके सपनों, आकांक्षाओं, इच्छाओं, यौवन, प्यार, स्नेह और विश्वास के अंडे बिखरे पड़े हैं। पता नहीं इन अंडों को बच्चों का रूप देने की ऊर्जा, ऊष्मा, उसकी देह में बचेगी भी या नहीं? यह सोच कर उसकी देह झुर-झुरा उठती है और इसी हलचल में एक अंडा नीचे आ गिरता है। सहज इच्छाशक्ति से, ममत्व की प्रेरणा से, अपने सम्पूर्ण आत्मबल को बटोर कर वह नीचे गिरे हुए अंडे के गिर्द घूमती है और किसी को उसे छूने नहीं देती। उसे पूरा विश्वास है कि अभी-अभी उस में से फुदकता एक प्राण चहचहाएगा। इस डर से कि कहीं उसकी चोंच कुजगह न छू जाए और उसका सपना दिन ही न देख पाए, इसलिए वह उसे अपनी चोंच भी नहीं लगाती। वह कुम्हलाई-सी कमरे के कोने में जा चिपकती है।

चिड़े-चिड़िया, उस चिड़िया को छोड़ कर जा चुके हैं, चूँकि सब को अपना-अपना चुग्गा लाना है। अपना-अपना आकाश नापना है, हवा पीनी है, प्यार करना है, बच्चे पालने हैं। चिड़े को चिड़ी और चिड़ी को चिड़ा चुनना है और भरनी हैं अपनी-अपनी उड़ान। उन्हें फुदकना है अपनी-अपनी धरती पर। घोंसले बनाने और सजाने हैं। तिनके लाने हैं,

चोंच से चोंच लड़ानी है और अपनी-अपनी चहक, चूँ-चूँ, चच-चच सुनानी है, गाने हैं अपने गीत! ये चहक ये गीत खुशी के हैं या गमी के, इसे हम नहीं पहचानते। चिड़िया खुद अपने पर विश्वास खोती, अशक्त-सी, अपनी गर्दन परों में घुसाए बैठी है।

उसके रोंगटे खड़े हैं। अँधेरा घिरता आ रहा है। अब वह इन्तज़ार कर रही है अन्त का, जो अनन्त है। एक इन्स्टिंकट (instinct) उसे बता जाता है “अन्त आ रहा है।” उसका चहचहाना स्वतः बन्द हो जाता है।

अगले दिन सवेरे-सवेरे देखा उसकी गर्दन लुढ़क चुकी थी। चिड़ा घोंसले में लौट आया था और उसके साथ में एक दूसरी चिड़िया उन अंडों को, वैसे ही अरमानों से भरी-भरी, अपनी सम्पूर्ण ऊष्मा से सेने लगी थी। अगर वह मानव होती, आदमी होती तो शायद क्रम दूसरा होता। मणिका अपने बेड पर लेटी-लेटी यह सब सोच रही थी। चिड़िया तो अलग श्रेणी में है, जहाँ क्रम बँधा हुआ है। कौन छूट गया, कौन रह गया, क्या रिश्ता है, क्या नाता है, इर्द-गिर्द क्या हो रहा है, इन सब से अनजान, जीवन के संघर्ष में जूझते, जीने की इच्छा पाले, चुग्गों की दिनचर्या में लीन, जीवन-चक्र में बँधे-बँधे चलते रहते हैं ये गगन-बिहारी, धरती-चारी, नीर-निवासी, नभचर, थलचर, जलचर।

वे अपने घेरे, अपने गिर्द खुद नहीं बाँधते और न ही उनमें बँधते हैं। उनके घेरे अगर हैं तो प्रकृति द्वारा-निर्धारित हैं। वे पूर्व-निर्धारित इन्स्टिंकट से चालित हैं। उन्हें मरने-जन्मने का अहसास नहीं। शायद उन्हें इसकी पहचान भी नहीं। जीने की कोई शर्त भी नहीं होती उनकी। उड़ना, चुग्गा चुनना, फुदकना, चहचहाना, सीमित-से काम, सीमित-सी ज़िन्दगी, सीमित-सी दिनचर्या, सीमित-सी जान, जिसके बिना भी दुनिया चलती रहेगी।

आदमी की परिभाषा में उस दिन चिड़िया मर गई। मणिका सोच रही थी क्या उसके सपनों के अंडों को भी सेने का जिम्मा कोई और उठाएगा? उसे लगा वह भी चिड़िया की तरह अशक्त और अवांछित हो गई है। सभी की अपनी दिनचर्या है अपना-अपना काम है। उसके पास तो अब उसके घेरे-दायरे भी न रहेंगे।

सभी के रिश्तों की दिनचर्या, भाग-दौड़, आकांक्षाएँ और सपने अलग-अलग हैं, फिर? उसके पास रहने का मतलब होगा, उन सब

सपनों पर रोक। कौन रोकेगा उन्हें और क्यों रुकेगा कोई रोकने पर भी? ये रिश्ते पूर्व-निर्धारित नहीं, मानव ने अपने से गढ़े हैं, इसलिए इन्हें तोड़ना या मानना, मानव-इच्छा पर निर्भर है। आज इस गति और मशीन के युग में, हम सब रिश्ते तोड़ बैठे हैं। हम सब तो मशीन के मात्र पुरजे बन कर रह गए हैं। हम तो बस सापेक्षिक सत्य हैं। किसी सम्पूर्ण सत्य के टुकड़े नहीं हैं हम। चिड़िया की तरह रिश्ते-विहीन, सन्दर्भ-विहीन, दिनचर्या की कड़ी में एक चक्र-सी, श्रृंखला-सी, चौबीस घंटे के चक्र में एक घंटा या वर्ष में एक दिन-सी, अनचाही, अपरिभाषित वह अपने कमरे की छत में, अपना आकाश सिमटता देख रही है। देख रही है, महसूस कर रही है दीवारों पर जोंकों की तरह सटे सपने। वह अपने बिस्तर पर चिड़िया की तरह निर्बल, निर्बल, नकारित आ गिरी। उसने एक बार खिड़की से बाहर आकाश को देखा। वह सदा की तरह बाँहें फैलाए, पेड़-पत्तों की जुबान में उसासें लेता फुसफुसा रहा था। उसने हवा को सुना, वह अपने आँसू गिराती भागी जा रही थी। उसने बादलों को भी देखा, वे आकाश में तरह-तरह के स्वाँग और रूप धर कर धरती के बच्चों का मन बहला रहे थे। यानी दुनिया जैसी थी वैसी ही चल रही थी। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा था! मणिका के गालों पर एक आँसू लुढ़क गया जो शायद चिड़िया की मौत के गम में कम, अपनी बेबसी पर अधिक विचलित था!

उसके मन में अस्ति और नास्ति का भेद मिट गया। आँसू और मुस्कान दोनों एक हो गए, एक हो गए उड़ान और थकान, गति और अगति!

चमेली

सरदारिन कुछ ढलने लगी तो मर्द का मन 'आनी-आनी' (दूसरी-दूसरी) जवान डौकियों की तरफ खिंचने लगा। सबेरे उठ कर बड़ी बेटी के पास दोनों छोटे लड़कों को छोड़ कर सरदारिन और करमाहादास काम पर चले जाते थे। राजा की खदान का बड़ा नाम था, इसलिए दूर-दूर से ट्रक वाले रात-दिन इसी खदान पर कोयले के लिए भीड़ लगाए रहते थे। रात में भी लालटेन और मोबिल जला कर लोडिंग होती थी। 'चोट-घाट' लगने का खतरा तो बहुत होता था पर रात की ठंडी हवा मार्च से मध्य जून तक थकने नहीं देती थी। जून में तो फिर वर्षा शुरू हो जाती थी। ट्रकों का आना मुश्किल हो जाता था। तब तक मलकट्टे (कोयला काटने वाले पुरुष मज़दूर को मलकट्टा कहा जाता है।) भी कोयला काटने पर ज़ोर देते थे और मालिक व ठेकेदार भी। लोडर कम पड़ जाते थे, इसलिए पलामू के चौधरी, केवट और चमार मर्द-मज़दूरों और राँची-चायबासा की 'मुंडा-उराँव' व 'हो' औरतों के दंगल के दंगल जुट आते थे। विलासपुरिया मज़दूर कोयले का कीड़ा माना जाता था, इसलिए सीजन में ज्यादा से ज्यादा कोयला 'खाने' यानी कोयला काटने की चिन्ता में रहता था। कोलियरी की भाषा में माटी पत्थर जिस मज़दूर ने काटा हो, उसी द्वारा कोयला काटे जाने को कोयला 'खाना' कहते हैं, उसे दूसरे को काटने के लिए दिया जाना सज़ा देना माना जाता था। करमाहादास अपनी जनी (कामिन) के साथ ही लोडिंग करता था। कभी-कभी ज्यादा गाड़ियाँ आ जाने पर लोडर लोग रेट भी बढ़ा देते थे और जल्दी लदाई कर देने पर ट्रक वाले भी खुश हो कर उन्हें अलग से कुछ बख्शीश दे देते थे।

सरदारिन बाई कुछ ढल-सी रही थी। बच्चों का बोझ अलग बढ़ गया था। सो करमाहादास ने घर में एक और औरत लाने का निर्णय किया। कोई ऐसी-वैसी न आ जाए, जो उसकी सेवा न करे, उसके कहे में न चले, इसलिए सरदारिन ने अपने ही चचेरे भाई की जवान बेटी का रिश्ता अपने मरद के लिए ठीक कर दिया और बरसात में जब दोनों छुट्टी पर अपने घर गए, तो लौटते हुए चमेली को ब्याह लाए। सरदारिन की बड़ी बेटी के उमर की चमेली, सरदारिन को अपनी सौत कम, माँ ज्यादा समझती थी, भले उसे रात को बाप के बराबर मर्द के साथ सोना पड़ता था। सरदारिन भी उसे बड़े प्यार से रखती थी। एक तो भाई की बेटी, दूसरे खटने में मजबूत। चमेली ने आते ही सौत के दोनों बच्चों को अपने छोटे भाई-बहन के समान देखना-पालना शुरू कर दिया। वह घर का पूरा काम करके थोड़ा बाद में काम पर जाती थी। ठेकेदारी का जमाना था, इसलिए जाने-आने का समय कानून और खातों में तो निश्चित था, पर व्यवहार में नहीं। सारा काम पीस रेटिड था यानी जितने टन कोयला काटो या लोड करो उतने के हिसाब से पैसा पाओ। इसलिए मजदूर बारह-बारह घंटे काम करते थे। वे तीनों जन मिल कर कोयला बोझते थे। रात को खटने के लिए चमेली को करमाहादास साथ नहीं ले जाता था। वह उसे मुंशी या ठेकेदार की नज़र से बचाने का भरसक प्रयास किया करता था। जानता था कि चमेली सुंदर है, जवान है। अगर उन में से किसी की नज़र में चढ़ गई, तो फिर वह उसे अपने धौड़े में रात भर रख ही लेगा। न करते भी तो नहीं बनता। अगले दिन काम से छुट्टी कर दिए जाने का खतरा था। मुंशी बाबू पूरा माल (कोयला अथवा गिट्टी पत्थर को माल कहते हैं) उसके नाम न चढ़ा कर, उसकी कमनी में कमी कर दे सकता था। चमेली पर दिनों-दिन और रूप चढ़ता जा रहा था। जब भी कभी लोडिंग के काम पर जाती तो तुरंत ट्रक का डाला खुलते ही वह पट्टा लगा कर माल ले कर चढ़ने लगती। करमाहादास बेलचा से झोड़े में कोयला बोझता और दोनों जर्नी (पत्नियाँ) झोड़े से ट्रक में बोझतीं। घर में कुछ ज्यादा पैसा आने लगा था।

पलामू वाले बेलचे से ही कोयला बोझते (उठाते) थे। वे झोड़े (टोकरे) का इस्तेमाल नहीं करते थे पर विलासपुरिया प्रायः बिना जनी (औरत) के 'संडा' (अकेला) खट ही नहीं सकता था। राँची, चायबासा से प्रायः औरतें ही खटने आतीं। वे ज्यादातर कोयला ही बोझती थीं।

वे मर्दों को साथ नहीं लाती थीं। वे अपने साथ देस से केवल एक मर्द लाती थीं, जो सिर्फ उनका खाना बनाता या झोड़े ढोकर घर से काम के स्थान तक ले जाता ले आता। झोड़ों में कोयला भी खुद औरतें ही भर लेती थीं। आदिवासी मर्द सिर पर झोड़ा नहीं बोझ सकता चूँकि उनके समाज में यह वर्जित है। वह उसे कन्धे पर रखकर ही बोझ सकता है। जन्म-जात बोझाड़ी (बोझा ढोने वाली औरत) ये आदिवासी महिलाएँ, चाहे वे राँची की हों या विलासपुर की, झोड़ा ढोने में बहुत माहिर होती हैं। दो ढाई घंटे में दस औरतें ट्रक में सोलह टन कोयला बोझ देती थीं। करमाहादास ने अपने दंगल में, इक्का-दुक्का अकेले आए कुछ राँची के मर्द और औरतों को भी रख रखा था। साँझ को सब मिल कर दारू पीते थे। रविवार-सोमवार दोनों दिन वे लोग 'राहों' बाज़ार जाते थे। इसलिए छुट्टी तो रविवार को होती थी पर नागा प्रायः सोमवार को भी रहता था। अगले दिन दस बजे तक उनका नशा ही नहीं फटता था। दूसरे दिन वे फिर बाजार करने जाते थे चूँकि राहों में सोमवार को ही बाजार लगता था, बाजार के समय तक नशा भी उतर जाता था। विधिवत काम मंगल से शुरू होता था। सब मज़दूर शनिवार तक डट कर काम करते थे। लोडरों को रात में भी काम पर जाना होता था। वे ना नहीं कह सकते थे, चाहे कितनी भी कठिनाई हो, बरसात हो, कड़क सरदी हो या तपती लू हो।

चमेली के भी दो बच्चे हो गए। अब सरदारिन बच्चों को देखती और चमेली करमाहादास के साथ खटने जाती। बड़ी बेटी जो अब सयानी हो गई थी, सरदारिन बाई देस जा कर, उसका ब्याह भी कर आई। वह सुखरू (निश्चिंत) होकर अब बड़ी माँ की भूमिका अदा करने लगी थी। रात को सरदारिन के पाँव दबाने के बाद चमेली करमाहादास के पास चली जाती और सरदारिन बच्चों को लेकर 'सूत' (सो) रहती। करमाहादास का लाड़-प्यार चमेली को भटकने न देता था। उस दिन रात को करमाहादास ने खूब पिया, 'खस्सी' (बकरे) का गोश्त भी खूब खाया। मन कुछ खराब लग रहा था। रात में मुंशी बाबू बुलाने आया तो वह नहीं गया। चमेली और सरदारिन दोनों गाड़ी बोझने चली गई। हालाँकि खदान सरकारी हो चुकी थी लेकिन फिर भी लोडिंग में कैजुअल और बदली काम चलता था। चमेली को नौकरी का कार्ड मिल ही नहीं रहा था। मुंशी बाबू को हाज़िरी के पैसे में हिस्सा दे देने पर वह उसे दूसरे के नाम पर काम करने की छूट दे देता था। ऐसे कोल इंडिया का

यूनियनों के साथ वॉलंटरी रिटायरमेंट अर्थात् बदली नौकरी का एग्रीमेंट होने के बाद, करमाहादास सोच रहा था कि अपनी नौकरी चमेली को दे देगा। सरदारिन को कार्ड मिल ही गया था। उसे चमेली की चिन्ता लगी थी। आधी रात को दोनों जनी काम से लौट कर आईं तो करमाहादास के कमरे में जाते ही चमेली चीख पड़ी। सरदारिन दौड़ी-दौड़ी गई। करमाहादास मरा पड़ा था। पास में दारू की बोतल खुली पड़ी थी। बच्चे दूसरी खोली में सो रहे थे। दो कमरे वाला झोंपड़ा था। अभी सरकारी घर नहीं मिला था। पक्के धौड़े (झोंपड़े) के सब लोग जुट गए। यूनियन के नेता को बुलाया गया। बेनोवलेंट फंड से पैसे लेकर काम-किरिया निपटाई गई। चमेली को बदले में नौकरी कैसे मिले, सबके सामने यह यक्ष सवाल था। दूसरी पत्नी होने के नाते कानून उसे काम नहीं दिला सकता था। पत्नी की जगह तो सरदारिन का ही नाम दर्ज था। विलासपुरियों की पंचायत बैठी। एक ही रास्ता था कि सरदारिन चमेली को करमाहादास की बेटी कह कर बदली नौकरी का फार्म भरा दे। बेटी शादी-शुदा हो तो कोलियरी के कानून में नौकरी नहीं मिलती। तब क्या किया जाए? जितने लोग जुटे थे सब को किरिया खिलाई गई

“कोई नहीं कहेगा, चमेली करमाहादास की डौकी (पत्नी) थी।” बस पंचायत के बाद से चमेली करमाहादास की विधवा बेटी बन गई।

दफ्तर का बाबू तिवारी बाबा था तो, बड़ा खच्चड़ पर वह घूस लेकर सब कुछ करने को तैयार रहता था। उसने करमाहादास की सर्विस-शीट में चमेली को बड़ी बेटी बना कर उसका नाम चढ़ा दिया था। अब तो कागद (दस्तावेज़) पक्का हो गया था।

यूनियन के नेताओं ने कहा कि “देखो हम लोग सब मदद करेंगे पर कहीं तुम ही लोग लड़-झगड़ कर फूट मत जाना।”

अवध सरदार सबको मान्य था। उसके सामने लिखा-पढ़ी हो गई। विलासपुरिया लोग लिखा-पढ़ी पर बड़ा जोर देते हैं। कुछ नाजायज़ भी करार करना हो तो लिख कर करते हैं, भले कानून की दृष्टि से वह खुद ही अपने करार के चलते फँसते हों। सरदारिन फिर काम पर जाने लगी थी। लोडिंग छोड़ कर उसने खदान में बोझाड़ी का काम पकड़ लिया था। चमेली मुंशी को कैजुअल में घूस देकर खटती रही। केदला में लाल झंडे की यूनियन बड़ी मजबूत बन गई थी, जिसके कारण अब सरेआम किसी कामिन को बुला कर रात भर जबरन धौड़े में रख पाना सम्भव नहीं रहा

था, जब तक अपने से ही कोई कामिन लोभ या किसी मजबूरी से चुप्पा-चुप्पी वहाँ न जाए। यूनियन ने सबको संगठित कर लड़ना सिखा दिया था। चमेली भी लाल झंडे की यूनियन की मेम्बर थी। यूनियन का साथ चमेली ने कभी न छोड़ा था, न ही करमाहादास और सरदारिन ने।

फार्म भर कर दे दिया गया था पर दफ़्तर के बाबू लोगों ने साल भर तक लटका दिया। बड़ी मुश्किल से नेताजी ने जी.एम. कार्यालय फार्म भिजवाया। इस बीच सरदारिन ने चमेली को पटना रैली में भेज दिया, जहाँ रास्ते में उसे सी.आर.पी. का मुकाबला करते, लड़ते-झगड़ते, डटे रहना पड़ा। अब चमेली का भय खुल गया था। वह यूनियन की हर मीटिंग में जाने लगी थी। कभी पटना, कभी दिल्ली, कभी कलकत्ता। जब रैली होती, चमेली सबसे आगे, नारे लगाती हुई हाज़िर। सरदारिन ढल तो गई थी पर उसी के शब्दों में “मरद की जरूरत भला किस औरत को नहीं होती!”

बगल में ही सावजी की दुकान थी। सावजी बिहारी था पर जात दोनों की एक थी। साव की ज़मीन कोलियरी में चली गई थी। केदला कोलियरी के सरकारीकरण होने से पहले वह ठेकेदार था पर अब केवल दुकानदार था। मज़दूरों को राशन बेचता था। उसी की पोखरी में ठेकेदारी के समय करमाहादास काम करता था।

“गुप्ता बाई ने हमें तो बरबाद कर दिया, अब तो हम भी मज़दूर ही बन गए हैं। हमें भी ज़मीन के बदले नौकरी दिलवा दो या दुकान ही दिलवा दो कम्पनी से।” कभी-कभी ‘साव’ जी बोलता।

सरदारिन सावजी और चमेली की नौकरी की पैरवी भी करती। ब्लास्टिंग के समय फोर टी.वी. क्वारी (एक खदान का नाम) के पत्थर धौड़े पर गिरने लगे थे। साव जी की दुकान भी फट गई थी। पत्थर गिरने पर सब मज़दूर मिलजुल कर खदान बन्द करने पहुँच जाते थे।

चमेली और सरदारिन इसमें आगे रहतीं। ‘सावजी’ ने सरदारिन को अपने साथ रखने का प्रस्ताव रखा।

“तो चमेली का क्या होगा?” सवाल उठा।

“उसे नौकरी मिल ही जाएगी।”

“आने (दूसरे) मरद के साथ काहे ले (क्यों) जाएगी? काहे नाय (क्यों नहीं) दोनों फिर एके (एक ही) मरद के साथ रहब?” सरदारिन का तर्क था।

‘साव’ जी का रात-बेरात सरदारिन के घर आना-जाना बढ़ रहा था। चमेली को यह मंजूर नहीं था। चमेली ने यूनियन में शिकायत कर दी कि कहीं रात में ‘सावजी’ उसे भी न धर ले। सरदारिन को यह बात लग गई। उसने ‘सावजी’ के कहने पर चमेली का यूनियन की मीटिंग में जाना रोक दिया। यहाँ तक कि नेताजी को बदनाम किया ‘चमेली के साथ फँसल (Entangled) है।’ नेताजी की पत्नी थी तो बहुत सुन्दर पर वह ‘कोंकी’ (गूँगी जैसी) थी, इसके बावजूद भी यूनियन ने लड़कर उसे उसके बाप की जमीन के बदले नौकरी दिलवा दी थी। सरदारिन की टिप्पणी से घर में झगड़ा लग गया। नेताजी की पत्नी को बच्चा हुआ तो चमेली ने उसकी बड़ी सेवा की थी पर डाह ने सेवा को भी भुला दिया। लगा-चढ़ा कर लोग नेताजी की पत्नी के पास चमेली और नेताजी की शिकायतें करने लगे। चमेली की जान आफत में थी। आखिर एक दिन मामला यूनियन की बड़ी नेता के पास पहुँचा। मज़दूरों में भी खलबली थी। कुछ लोगों द्वारा लोकल-बाहरी का सवाल उठा दिया गया था। विलासपुरिया लोग कहने लगे थे कि बिहारी नेता लोग विलासपुरियों को रखनी रखने लगते हैं, जैसे उनकी कोई इज्जत ही न हो। वे राँची वाले नेताजी के पक्ष में थे।

“सावजी के साथ चमेली के रहे का मन नहीं तो काहे रहेगी वह ऊकर संग?” उनका तर्क था।

सरदारिन अपनी मंशा पर परदा डालने के लिए नेताजी को ही दोषी ठहरा रही थी। चमेली को पीटा भी जाने लगा था। एक दिन चमेली भाग कर सीता के घर चली आई। तरह-तरह की अफवाहें फैलाई जाने लगीं। बात यहाँ तक सोची जाने लगी कि चमेली की नौकरी हो जाएगी तो नेताजी उसको कहीं दूसरी कोलियरी में ज्वाइन करवा देंगे और वे स्वयं भी उसी के साथ जाकर रहने लगेंगे। चमेली अपनी सोने की बालियाँ नेताजी की पत्नी के पास रख आई थी कि कहीं उसे घर से निकाल दिया गया तो काम आएँगी।

“मेरे पति करमाहादास की नौकरी चमेली को न दी जाए, मेरा बेटा बड़ा होगा तो वही मेरे पति की नौकरी लेगा।” ‘सावजी’ के बहकावे में आकर सरदारिन ने प्रबन्ध को इस आशय का पत्र लिख कर दे दिया था।

प्रबन्धन को क्या चाहिए था? झट से चमेली की नौकरी की अर्जी

खारिज कर दी गई। बेसहारा चमेली क्या करे? कोलियरी में कैजुअल खटती थी। यूनियन की बड़ी महिला नेता को फिर बुलाया गया। उन्होंने उसे सीता के घर से सरदारिन के घर पर ही रहने के लिए भेज दिया ताकि उसका हक सरदारिन के घर पर बना रहे। नेताजी को भी इस मामले से अलग रहने को कह दिया गया ताकि हवा में फैली अफवाहों पर रोक लगे। सरदारिन को भी डाँटा। मलकट्टे दो भाग में बँट गए थे। कुछ विलासपुरिया चमेली की तरफ और कुछ सरदारिन की तरफ हो गए। चमेली को कुछ दिन के लिए देश भेज देने को कह दिया गया था। यह ताकीद भी सरदारिन को दे दी गई थी कि वह चमेली को सावजी के साथ रहने के लिए मजबूर नहीं करे। यूनियन की बड़ी नेता ने 'सावजी' को भी बुला कर डाँट दिया था। चमेली की 'घरूआ' लड़ाई के कारण उसकी नौकरी की लड़ाई खटाई में पड़ गई थी।

अब सरदारिन को अकेले सब काम करना पड़ता था। बच्चों की देखभाल और काम पर भी जाना। साव जी का जोश भी ठंडा पड़ गया था। वे दोनों की कमाई खाने के चक्कर में थे और उनकी खास नज़र चमेली पर थी। पुराने ठेकेदार जो थे। हाथ में चमेली नहीं आई तो सरदारिन को भी छोड़ दिया। सरदारिन भी छुट्टी लेकर देस चली गई। वहाँ चमेली के माँ-बाप भी आए। चमेली ने सभी बातें उनके सामने रखीं। आखिर सरदारिन की समझ में बात आ गई। दोनों में सुलह हो गई। 'सावजी' की चाल नाकाम हो गई। सरदारिन चमेली की पैरवी में फिर नेताजी के पास गई।

“चमेली की नौकरी लगा दे न नेताजी। हमर से गलती हो गई। हमर बुद्धि मरा (भ्रष्ट) गई जो तुम पर 'सक' (शक) कर लिया।” मज़दूर भी दोनों की बुरी दशा देख कर चमेली के पक्ष में फिर से एकमत हो गए थे।

नौकरी के लिए फिर सरदारिन से लिखवा कर दिया गया 'बहकावे में आकर मैंने जो शिकायत प्रबन्धन के पास की थी, वह ग़लत थी, उसे न माना जाए। चमेली ही मेरे पति की नौकरी की वारिस है।'

अब चमेली घर में सौत की सेवा करती है। नौकरी का इंतज़ार करती है नौकरी मिल जाती तो उसका जीवन सुधर जाता। उसने सोच लिया था कि वह अब तब तक घर से बाहर नहीं निकलेगी, जब तक नौकरी न मिल जाए। वह यूनियन की लीडर नहीं बनेगी। लीडर बनने

पर मर्द भी चिढ़ते हैं और कामिनें भी। वह कैजुअल-बदली में खटती है। बगल के झारखंड की खदान में खटते हुए जब से दो कैजुअल-बदली मज़दूर खदान भसकने से दब कर मर गए, तब से चमेली की कैजुअल मज़दूरी भी बन्द है।

काग ज़ आगे बढ़ाने के लिए नेताजी रोज़ जी.एम. कार्यालय के चक्कर लगाते हैं। उन्होंने ही बताया कि “महिलाओं को नौकरी देने की बन्दिश है, इसलिए मामला फँस गया है। अब फैसला राँची से होगा चूँकि नए आदेशानुसार अब प्रोजेक्ट या जनरल मैनेजर भी निर्णय लेने को अधिकृत नहीं हैं। जब तक गुप्ता बाई कोशिश नहीं करेंगी, मामला कठिन लगता है। ऐसे भी औरतों को नौकरी से हटाने के लिए कोयला खदानों का प्रबन्धन हर तरह से औरतवन को जानबूझ कर परेशान करता है, ताकि तंग आकर वे लोग नौकरी का दावा ही करना छोड़ दें।”

चमेली ने कहा “पर अब तो कोयला वेतन समझौते की धारा 9.4.3 प्रयोग में लाई जा रही है। उसमें तो जनीमन के भी नौकरी मिल रही है न!”

नेताजी ने समझाते हुए कहा “इसके तहत मज़दूर को बीमार प्रमाणित कर उसके बदले केवल उसके मर्द आश्रित को ही नौकरी दी जाती है महिलाओं को नहीं।”

“पर मेरा केस तो 9.4.2 का है, इसमें तो मरे वाले के बदले नौकरी देवे के जरूरी होत है। बस एक सबूत ही तो बनवाए के पड़ी कि हम आपन मर्द के ही सहारे रहल। घर में नौकरी करे वाला कोई दूसर मर्द नाय है और ना ही हमर कोई बेटा नौकरी करे लायक है या बड़ा हो के नौकरी पर दावा करे वाला है।” चमेली ने कानून समझाते हुए नेताजी से कहा।

“करमाहादास का तो बेटा है, भले छोटा है।” नेताजी बोले तो सही पर तुरन्त सोच में पड़ गए।

“चमेली को नौकरी कैसे मिले? चमेली के लिए एक औरत होना ही गुनाह हो गया है। वह औरत है इसलिए उसे नौकरी नहीं मिलेगी। औरत की नौकरी पर प्रतिबन्ध है। प्रबन्धन नौकरी देने में आना-कानी कर रहा है। यूनियन में काम करने पर औरत बदनाम कर दी जाती है।” नेताजी सोच-सोच के विचलित हो जाते हैं।

“मैं जनी (औरत) हूँ न। एही खातर सभै जन हमर पर नज़र गड़ात

हैं चाहे बप्पा के उमिर का हमर मर्द हो, चाहे मुंशी, चाहे 'सावजी'। फलाना (अमुक) से 'फँसल' है, ढिमका से 'फँसल' हैं ऐसे 'दोस' लगते ही रहस। और साले विलासपुरी मर्द, जे अपन त रोज़ एक नई डौकी (औरत) ले आत हवे पर आपन डौकी की झूठी बदनामी कर उकरा कहीं का नाय छोड़त हैं। इ तो गनीमत है कोई हमर के डायन नाय कहल है। तीजमति का मन घसिया के साथ चला गया तो किसन राम उकरा के डायन कह के लाठी से पीट-पीट कर मार देहस (दिया)। तीजमति कितन बहादुर लीडर हवे यूनियन के। ऊ थानेदार के भी पकड़ के पीट देत रहस। पर ऊ लीडर थी तो का? विलासपुरियन के लिए तो ऊ घर की मुर्गी दाल बरोबर थी। साला मनीजर भी डरे था उससे ठिकेदार भी बिदके था... पर किसनराम और बाकी सबन मिल के मार डालस।”

चमेली सोच-सोच कर झुँझला उठती थी। वह मन ही मन पुनः-पुनः योजनाएँ बनाती 'एक बार नौकरी तो पाय (पा) लूँ फिर पूरा वक्त यूनियन का ही काम करवे करूंगी और ऐसन सभे मरदवन को ठीक कर दूँगी जे डौकियन (औरतों) के साग-भाजी समझत हवे। साला अपने तो दो-दो डौकी लिया लाता है। ऐसन मजदूर के हम शिकायत कर देबै तो एको की नौकरी नाय बचतै। चाहने पर सभै (सभी) की नौकरी खा सकत हैं हम। बगल में महेत्तर राम है न। अपनी साली को ही ब्याह के ले आयल (आया) है। पुरानी जनी को टी.बी. हो गयल (गई) है। रोज़ मारे है पुरानी के। नइकी डौकी भी तो मारत है उकरा। चाहे जो हो, हमर दीदी ई मामले में अच्छी है। ...खैर, अभी मन मार के रहवे के चाही। नौकरी मिल जाइब तो हम बता देव कि लीडर कैसे बनल जात है। हम सीता से कम नाई रहब।”

इसी उम्मीद में जी रही है चमेली। लड़ रही है चुपचाप अपने समाज से, प्रबन्धन से, अपने आप से, अपने मन से और सब से ऊपर व्यवस्था से।

बहू-जुठाई

आज सुबह टोली में ढोलक जोर-जोर से बज रहा था। पिपही की आवाज़ बीच-बीच में ढोलक की धमक को चीर-चीर देती थी। एक-एक कर लोग राधू के चबूतरे पर जमा हो रहे थे। बराती सर पर फेंटा (कपड़ा) बाँधे, कमर में धोती कसे चले आ रहे थे। माधो के सर पर पाग थी। सेहरे के नाम पर केशों में परास (पलास) के फूल खोंस लिए थे। माधो की झालर-सी काली लटें गर्दन पर झूल रही थीं, उसकी मसैं भीग रही थीं। बरात की जल्दी बिदायगी हो जाए, इसलिए माधो की माँ छाती पर हाथ धरे मन-ही-मन मन्नत मना रही थी।

राधू का मँझला बेटा है माधो। राधू दो बरस से गौना करवाने की कोशिश में लगा है पर कोई न कोई बाधा आ खड़ी होती और गौना रुक जाता है।

“अब तक बहू आयल होती तो दो-दो निकोनी (खेत की कुड़ाई), दो-दो रोपनी (बुआई), कटनी (कटाई) में शामिल हो के, कमाय के घर में कुछ न कुछ लाई होती। एक-आध बुतरू (बच्चे) का बाप बन गेल होत मोरा बेटा माधो। पर का कहें जब माधो का ब्याह हुआ, तब कोउओ ऐसन-वैसन सवाल नाय उठाये रहल पर अब गौने का समय आते-आते जुग ही बदल गेल है। कोई इस गाँव में बेटा देवे नाय चाहत। उ ससुरा बिरसा का बेटा भी तो भाग के ससुराल में जा बसल (बसा) है। उसका ससुर बिदायगी (विदाई) करे के तैयार ही नाय होत रहल। बड़ी मुस्किल से तैयार होये है माधो के ससुर। उकरा बेटा भी कॉलेज में पढ़त है न। कोइयो पर विश्वास नखे (नहीं) उकरा। अपन गाँव में तो कोउओ (किसी)

से भी कुछो कहना-सुनना बेकारे है। केकरा (किस) पर विश्वास करब। सभै के बहू त ठाकुर से जुठायल है और माँ ठाकुर साहब के बाप से। कोउओ सार (साला) में दम नाय है।” राधू मन ही मन सोचते हुए अस्थिर हो उठा।

तभी पहलवानों के साथ ठाकुर साहब का बराहिल (नौकर) सगुन लेकर आ गया।

“पूरे पाँच रुपइये के चमचम करते सिक्के की माला दूल्हे खातर भेजले हैं ठाकुर साहब। लगे है ई बार दुल्हन के चाँदी चढ़ौते ठाकुर साहब।” वह बड़े उत्साह और घमंड से बोला।

मुहल्ले की बहुएँ सोच-सोच कर मन मसोस कर रह जा रही थीं। उनके भाग्य में चाँदी न थी। बस पीतल से ही काम चला लिए था ठाकुर ने।

“पर तब ठाकुर जवान हले (था)। अब तो ‘बूढ़’ हो गेल।” यही सोच कर संतोष कर ले रही थीं वे सब, कि उनको जवान ठाकुर ने जुठाय था, भले ‘नेग’ (शगुन) में पीतल ही मिला था। नौजवानों का दल अन्दर ही अन्दर उबल रहा था पर कोई बोल नहीं पा रहा था। इस गाँव में बोलने का रिवाज़ ही नहीं था। ठाकुर साहब के हाथों माधो के बड़े भाई की फ जीहत देख कर सब सहमे हुए थे।

राधू डोली के साथ जाने वालों के जुटने की राह तक रहा था। यह माधो का गौना था जब दुल्हन स्थायी रूप से ससुराल में रहने आती है। इस रस्म पर ब्याह से अधिक रीति-रिवाज़ निभाने पड़ते हैं। इस समय असल खर्च तो लड़के वाले को ही करना पड़ता है। दुल्हन के कपड़ों के साथ-साथ दुल्हन के माँ-बाप, भाई-बहन, भौजाई और ठाकुर (नाई) तक के कपड़े देने पड़ते हैं।

“ब्याह में तो बराती-सराती दोनों के खर्च त हम लड़के वाले के ही करे होतै न! कमाय वाली बहू जे घर में आती है। खर्च तो लगवै करते। ई कोई बाबू साहिब के घर की बहू नाय, जे आपन पींधे-ओढ़े (पहनने-ओढ़ने) खातर आपन नैहय्यर से ही सभै सामान ले आवत हैं। हम सब के तो बहू घर लाए खातिर करेजा चाही करेजा हिम्मत चाही! बड़ा मुस्किल काम है घर में बहू लाना।” राधू ने माधो की माँ को सुनाते और समझाते हुए कहा।

राधू का गाँव प्रतापपुर प्रखंड, चतरा सब-डिवीजन में पड़ता है, जो

अब जिला बन गया है। वह बीते दिनों की याद में डूब गया और मन ही मन बतियाने लगा

“तब यहाँ दिन में भी सड़क पार करे में डर लगत रहा। जंगल में घुसना तो औरो मुस्किल था। हजारीबाग जिला का ई छोर गया से ‘सटले’ (सटा) है, जेने नीलांजन नदी बहत है। इस जिला का दूसर छोर रामगढ़-गोला है, जेने दामोदर नदी बहत है। जैसन नदियाँ वैसनै लोग या जैसनै लोग, वैसनै ही नदियाँ हैं उहाँ। बौखला-बौखला, उफन-उफन, गाछों (पेड़ों) के तोड़त-तोड़त, पत्थरों के ठेल-ठेल, भाग-भाग बहत है लाल-लाल खपरैल छतवाले झोंपड़न और मेहनतकश लोगन की कतार के बीचोबीच दामोदर। लोग भी वैसनै उत्साही बात-बात पर भड़के वाले। पन ई बगल हमर नीलांजन नदी तो पहाड़ ते निकल के हंटरगंज के मैदान में एकदम ऐसन फैल जावत है कि जल से ज्यादा बालू ‘जबर’ हो जात है। बिना जल, निर्जला, उपासी जनी जैसन शान्त बहत है नीलांजन नदी। बालू के नीचे दबल है जल। भीतर-भीतर ही बहत है नदी, ठीक हमनी की तरां (तरह)। यहाँ के लोग भी त जल जैसन ही दबल-दबल हैं। बालू जैसन ही बलवान हैं सभै ज़मींदार इहाँ, जे बालू जैसन ही दाब रखल हैं हमनी सब के। बस तनि सिर उठाओ तो चढ़ बैठे। आधा कोस पाड़ है नीलांजन का पर पानी कहीं-कहीं ही ‘दिखार’ होत है। यहाँ की तो हवा भी बालू का ही साथ देत है। इन घने जंगलवन में तो गाँव भी कमे है, बस कहीं-कहीं टावाँ-टावाँ। जेने-तेने हैं भी त किलेनुमा ज़मीन्दार की कोठी, हवेली या किले की दीवाल के धोरे (बगल) बसल भयभीत, डरल-डरल...भय से भरल टोले। पन ई सब किले, हवेलियाँ और दालान तो हम भुइयाँ-मुसहर ही तो बनौले हैं।” उसका मन उससे पूछ रहा था आज

“इनकर दीवाल चिनले हैं? नींव कोड़े हैं? खलिहान को धान से भरले हैं?”

“हमनी सब न!” वह खुद ही उत्तर देता।

“महुए का बीज चुन-चुन के तेल हमही पिरौले (पिराया) है और पीपे के पीपे भरके गोदाम में साजे हैं। पन हमनी सब के थकल-माँदल देह या जटा-जूट (उलझे) ‘चूलों’ (केशों) में लगाए के कभियो तेल नाय मिलल। बिना तेल जटा-जूट बन जात हैं हमरी महाराखवन के

बाल। इन घाटियों और पहाड़ों के दोल में बसल हमर प्रतापपुर और हंटरगंज प्रखंड पहले तो राजा साहब के भतीजे की ज़मीन्दारी था। अब भी तो ज़मीन पर उन्हीं का कब्ज़ा बरकरार है, भले कागज़ में ई जमीन हमनी सब गरीबन के बाँट देले है सरकार! पर कौन बोले? एसन सोचना ही पाप है पाप! पता नाय काहे आज हमर मन में ई सब गलत-सलत सवाल उठ रहल है?”

राधू सोच भी रहा था और मन ही मन अपने को दूस भी रहा था। इधर जब से माधो के गौने को लेकर समधी से कुछ बोला-बोली हुई, तब से उसके मन में नई-नई बातें उठती रहती हैं। राधू सोच कर कभी उदास हो जाता है, कभी माथे पर चिन्ता की रेखा खिंच जाती है, तो कभी गुस्से से मुट्ठी भिंच जाती। पता नहीं क्या होगा इस बार।

राधू कभी विगत तो कभी आगत की सोच में डूबता-ऊबता, यादों-सपनों और शंकाओं में गोते लगा ही रहा था कि माधो की माँ चिल्लाई “कौन सोच में डूबल है? सूरज सिर पर चढ़ आया। डोली वाले भी आ गेले हैं।”

राधू हड़बड़ा कर उठा और चिल्लाया “चलो-चलो, जल्दी चलो। बहुत अबेर हो गेलय। जंगली जानवर के खतरा हो जात। सूरज ढलने से पहले पहुँचे के है। सभै राह तकते होंगे। लोग तो एसने ही इस गाँव में आपन बेटी देवे के तैयार न हैं। चल बेटा चल। डोली में बैठ!” उसने माधो को पकड़ कर डोली में बैठाते हुए कहा। कहार डोली उठा कर चलने लगे। औरतें गीत गाने लगीं। इधर दूल्हा डोली में चढ़ कर जाता है।

रात में देर गए सब लोग मुकुन्द भुइयाँ के घर पहुँचे। मुकुन्द कोलियरी में काम करता था, इसलिए दुनिया को ज़्यादा जानता था। बेटा राजू भी कॉलेज में पढ़ने लगा था। मुकुन्द की मेहरारू (पत्नी) भी धनबाद में ठेकेदारी में ही खटती थी। जब खदानें सरकारी हुई तो दोनों जनी-मरद सरकारी हो गए। बड़ी कम्पनी में गया के ही बाबू साहब की ठेकेदारी चलती थी। जब कोलियरी सरकारी नहीं हुई थी, तभी मुकुन्द ने अपना नाम मुंशी में चढ़वा लिया था और वह सरकारी खदान में हाज़िरी बाबू बन गया था। बचपन में ही फुलमतिया का ब्याह माधो के साथ हो गया था। बेटी का गौना करने के लिए ही मुकुन्द अपने गाँव आया था। मुकुन्द का झोपड़ा राधू से अच्छा है।

उसके रहन-सहन और धोती की क्वालिटी में भी फ रक आ गया है। राधू की धोती अभी 'ठियोने' (घुटने) से ऊपर है। मुकुन्द की धोती मुकुन्द के पाँव छूती है।

सवेरे ही बेटी विदा करनी है। रात भर में सब शगुन पूरे करने हैं। औरतें शगुन पूरा करने में लगी हैं। वे सभी दूल्हे को अन्दर दलान में ले गई हैं। घर-आँगन में समधी को गाली भरे गीतों की बौछार में फूटती हँसी की फुहार छहराई जा रही है। भोर होते-होते विदाई के गीतों की धुन से घर-बार रूआँसा-सा हो गया है पर पता नहीं क्यों मरदों में कुछ खुसुर-फुसुर चल रही है। मुकुन्द कुछ कहना चाहता है। वह बार-बार जनवासे वाले आँगन में जा-जा कर लौट आता है। घर के पिछवाड़े में गाँव के जवान लड़कों की जमात जमी है। भुइयाँ टोली में चमार, दुसाध और यादव टोले के नौजवान भी जुटे हैं। एकाध लड़के कोयरी, नउवा और साव घर के भी पहुँच गए हैं। भोर हो गई। राधू इन्तज़ार में है कि मुकुन्द आ कर 'बिदाइगी' की सूचना दे। रस्म-रिवाज़, नेग सब तो पूरे हो चुके हैं। दोपहर से पहले बराती वापस गाँव पहुँच जाए, तो ठीक होगा। धूप में किसी को परेशानी नहीं होगी पर कोई बिदायगी की सूचना देने आ ही नहीं रहा न मुकुन्द और न राजू।

आखिर राधू ने ही मुकुन्द से जाकर पूछा "क्या देर है समधी भाई?" घर पर चुप्पी का सन्नाटा तना था। औरतों की सतत् आवाज़ के बावजूद भी एक सन्नाटा तना था वहाँ।

राधू ने मुकुन्द को सफाई देते हुए कहा "अभी जितना जुट सका ले आए हैं समधी भाई। अबकी कटनी में कमी पूरी कर देंगे। आपकी बेटी को पैजाब (पायल) ज़रूर खरीद देंगे।"

"ऐसी कोई बात नहीं है समधी भाई। असल में तू तो जाने है मेरा बेटा भी जवान हो गेल (गया)। कॉलेज में पढ़े है। पुरानी-सुरानी बात में उकरा कोई विश्वास न है। तोहनी के (आपके) गाँव का कुछ रिवाज़ ही ऐसन है कि लड़की विदा करने की सोच के, कलेजा फटे लगता है। कोई बड़े कलेजे वाला ही बेटी विदा कर सकवे तोर गाँव में। हमनी के कलेजा कड़ा करके ही विदाई करे पड़तै। मोर बेटा राजू मुझसे पूछ रहल है समधी 'ठाकुर साब के यहाँ आपनी बहिनी को कलेवा (नाशता) बनाने खातिर कैसे भेजूँ।' उ कहत है कि उ अपन

बहिनी को तभी विदा करेगा, जब आप सभी लोग इस पूरे गाँव के सामने वचन दो कि फुलमतिया का डोला आप अपने घर उतारेंगे, ठाकुर साब के दुआर पर नहीं।” मुकुन्द ने खुलासा करते हुए कहा।

“देख चचा, इस बात का फैसला पहले यहाँ ही करना होगा। हमारी बहन फुलमतिया का ब्याह आपके बेटा के साथ हुआ है, ठाकुर के साथ नहीं। जिससे वह ब्याही है, उसी के साथ मैं आपन बहन को विदा कर रहल हूँ। अगर आप उसकी रक्षा नहीं कर सकते तो अभिये बता दो चचा! ठाकुर साब के जुठाए खातर मैं अपन बहन नहीं भेजूँगा। हम माधो को भी घरजमाई बनाय के अपने ही घर में रख लेंगे। बोल चचा! हमरी शर्त मंजूर है?” राधू को तो मानो साँप सूँघ गया।

“ठाकुर साब के खिलाफ बोले वाला अभिन तक कोइयो पैदा हुआ है इस जुग में बेटा? हमरे घर से आवाज़ उठेगी तो कोई ज़िन्दा नाय बचतै हमरे इहाँ। पानी में रहकर मगर से बैर? हमरा घर तो क्या सगरा (समूचा) गाँव ऐसन नहीं कर सकत। जे रिवाज़ पुरखों से चलल आ रहल है, उसे चले दे! हमनी तो ठाकुर के ही जूठन हैं। उन्हीं की ज़मीन पर उन्हीं का जूठा खा के पलत हैं, उन्हीं की जुठाई हुई महारारु (पत्नी) घर में रख सकत हैं। यही लिखल है हमरे भाग (भाग्य) में। प्रतापपुर ब्लॉक ज़मीन्दारी का गढ़ है? इहाँ कोई कुछो बोल नाय सकत। एकूगो बेचारा सहदेव यादव है, जे हमरी तरफ से कुछ बोलत है। गाँव के लोग उकरा साथ दें, तब न? वह भी कई बार कह चुकल है एही बात, जे तुम आज कहत हो। मोर जेठा (बड़ा) बेटा इसी गम में पागल होकर जंगल भायग (भाग) गेल (गया)। अब जिद मत कर बेटा। डोली उठे दे! बहिनी के बिदा कराय दे।” राधो ने गिड़गिड़ते हुए कहा।

“नहीं जाएगी मेरी बहन!” राजू चिल्लाया।

“अब हमनी खाली हाथ लौटबे त भी हमनी सब के घर उजड़ जयते बेटा। उ जालिम लोग तुमरे घर में ढुक के (आकर) डोला उठाए के ले जाएब। उ सबनी (सब) बड़े जबर लोग रहल! उनके पास पाँच-पाँच नाल बन्दूक हतै (है)। तोर बहिनी को बीच चौक में मुजरा कराए देब कुँवर साहब जदि आज नाय जायब। कोठे पर बिठा देयल हैं कई मैयन (लड़कियों) के छोटे ठाकुर। इस बार माफ नाय करत

हमनी के ऊ। देख, ऐसने ही इंकार करे पर हमर जेठ (बड़े) बेटे का घर उजड़ गेल। हमर बड़ी बहू के उ लोग रख लियल। माँझल बेटा का घर बसे दे बेटा, मैं तुमरे सामने हाथ जोड़त हूँ! जिद मत कर बेटा!” राधू हाथ जोड़ते हुए बोला।

राजू के साथी जुट रहे थे। किसी ने जाकर माधो को राजू की सब बात बता दी थी। माधो के मन में हलचल मच गई थी। भय भी था पर विद्रोह भी फटना चाह रहा था। माधो एक-दो बार शहर हो आया था। बाबू जीतनाथ सिंह के साथ केदला कोलियरी भी गया था। मांडू क्षेत्र से जीतनाथ सिंह के दूर के भाई राजा पार्टी के टिकट पर एम. एल. ए. हुए थे। इस बार यूनियन का जोर बढ़ गया था कोलियरी में। बड़ी मुश्किल से जीते थे बाबू साहब के भाई।

ठेकेदार लोग कोलियरियों में अपने गाँवों से मज़दूर तो ले जाते थे पर इस डर से कि उन्हें भी कहीं यूनियन की हवा न लग जाए, वे उन्हें धौड़ों (मज़दूरों के झोंपड़े) से बाहर निकलने ही नहीं देते थे। मज़दूरों को डराने-धमकाने के लिए सब ठेकेदारों ने आरा, छपरा, बलिया या औरंगाबाद से पहलवान मँगा कर रख रखे थे। सभी मज़दूर जीतनाथ बाबू के गाँव के ही भुइयाँ-मुसहर थे। जो ठेकेदार देता, उसी में वे खुश थे। उनको वहाँ गाँव से तो कुछ ज्यादा ही मिलता था। हफ्ता में राशन-पानी, चाय-चीनी का काट-कूट के नगद आठ आना हाथ में मिल जाता था। नगदी तो कभी वे गाँव में छुए तक न थे। एक बार यूनियन वाले अड़ गए थे। उन सब में एकता है। जीतनाथ सिंह को भी अपने मज़दूरों का पैसा बढ़ाना पड़ा था, भले ही उनके मज़दूरों ने हड़ताल नहीं की थी। उन्हें बिना लड़े ही पैसा मिल गया था। एक बार जब ज्यादा पैसा मिल जाय, तो फिर कौन कम लेता? मज़दूरों को रोज गरियाता था बाबू जीतनाथ सिंह ‘सालों को गाँव में जाके देख लेंगे।’ मन ही मन याद कर माधो मुस्कराया।

‘पर का देख लेगा? का बिगाड़ सकत है गाँव में किसी का जीतनाथ बाबू? कोई हमर ज़मीन है? हमर गाय-गोरू है? का छीन लेगा उ? इहाँ तो कम-से-कम हफ्ता में राशन-पानी और नगदी जैसे मिल जात हैं, इसीलिए गाँव से भाग-भाग के औरत-मर्द सभै कोलियरी में जा रहल हैं। मैं भी फुलमतिया को लेके होन्हे ही चल जाऊँगा!’ माधो सोच कर मुस्कराए जा रहा था।

वह शहर जाकर जान गया है कि अब राजा साहब का राज नहीं है। अब तो खदानें भी उनके हाथ से चली गई हैं। केदला की राजा-खदान पर सरकार ने अपना हाकिम बैठा दिया था, तभी तो सब ठेकेदारों की नाक में दम कर दिया है रेणुकाजी की यूनियन ने। वह जानता है कि चतरा से एक बार कोयरी जीत चुका है। गया में एक भुँइनी भी एम. एल. ए. है। सोशलिस्ट पार्टी के कर्पूरी ठाकुर मुख्यमन्त्री बने थे।

‘जजमानी करके पेट पाले वाला हमरै जैसन गरीब एक ठाकुर (नाई), मुख्यमंत्री बन गेल था। ये तो राजा साहब और कांग्रेस के सब ठाकुर (राजपूत), बामन, बाभन (भुमियार), लाला (कायस्थ), ज़मींदार और सेठ मिल के गिरा देलके उकरा राज। सब आदिवासी, हरिजन एम. एल. ए. को ‘किन’ (खरीद) लेले। नहीं तो हमनी सबका भी भाग बदल जइतै। बड़ भाई भी भाभी के गम में नाय पगलैते।’ विचलित हो उठा था माधो। एक-एक घटना चलचित्र की तरह नाचने लगी थी उसकी आँखों के सामने। वह देख रहा था यादों के परदे पर जब बड़ी भाभी को ठाकुर साहब डोले से उतार कर ले गए थे, तो कैसे ‘बुक्का-पाड़’ के रोया था उसका बड़ा भाई। रात भर सो नहीं सका था वह। वह रात भर कभी मुट्ठी बाँधता, कभी भींचता और कभी खोलता रहा था। फिर भाभी के घर लौटने के पहले ही वह घर से भाग गया था। कई दिन बाद घर लौटा था भाई, तो खूब रोई थी भाभी उसे देख कर। भाई ने कसम खाई थी कि वह भाभी को लेकर गाँव से बाहर भाग जाएगा। दोनों ने साथ ही बिताई थी वह रात। कितने प्रेम से बतियाता था बड़ा भाई। भाई ने अगले दिन उसे ठाकुर साहब के घर जाने से मना कर दिया था। यादों का परदा भी काँप गया था ठाकुर के गुस्से की याद करके।

‘ओह! कितना गुस्सा हो गए थे ठाकुर साहब? हमर बाप के ही भेज के पूरे गाँव के लोगों को जमा कराया था। भाई को पकड़वा कर मँगवाया। भाभी का झोंटा (केश) पकड़ के खींचत-खींचत बराहिल (नौकर) ऐसन ले गेल जैसन द्रौपदी के दुःसासन। भाभी के नाचे के हुक्म दे दिया जालिम ने। हमर मन तो शर्म के मारे मर जाय के करे लगल था।’

वह यादों के झरोखे से साफ देख रहा था, जब उसका बाप हाथ

जोड़-जोड़ कर 'गुहार पाड़' (पुकार-पुकार) रहा था पर कोई सुनने वाला हो तब न? भाई जंगल में भाग गया था। कोई कहता है वह साधु बन गया, पुलिस कहती है वह डकैत बन गया पर सहदेवजी कहते हैं वह नक्सल हो गया। अब पुलिस भी डरती है उससे। वह मुस्कराया।

'ठीके है! बेश हुआ जे भाग गया। इस गुलामी से तो नीक (अच्छा) है।' माधो मन ही मन सारी घटनाओं को दुहरा-दुहरा भोग रहा था।

उसका मन हुआ कि बाप से कह दे 'ठीक ही तो कह रहा है राजू। हमर ब्याहता हमर संग रहतै। ठाकुर कौन होत है, हमर बहुरिया के ले जाये वाला? हम आपन ब्याहता के दूसर के कैसे सौंप सकत हैं? पहले ऊ सब हमर सभी के माय के जुठाय खातर ले जात रहे। फिर भौजी को भी जबरन आपन घर में रख लियल हैं। घुरे (लौटने) भी न देत है। शुकर है गाँव की लड़कियन को नहीं ले जात हैं ठाकुर साहब। उन्हें शक है कि इन में से कहीं कोई उनकी आपन औलाद तो ना है उनकर आपन खून, उनकर आपन 'बीरज' (वीर्य) से पैदा होयल कोई...पर कोई सुन्दर मैया (लड़की) ठाकुर साहब के बराहिल (नौकर) से नहीं बचती। वह कुँवर तो अपनी बहन के साथ भी सूते से नहीं डरता। घर में घुस के छेड़खानी करत है बहू-बेटियन संग। कम से कम ठाकुर साहब त ऐसा नहीं किए कभी। अब तो इस गाँव की लड़कियों को भी छिनाल बना देल है उ सबनी। किसी के सुरखी, किसी के पाउडर तो किसी के लिपिस्टिक लाय देत हैं। अब सब फिदा हो गई हैं उनही सालों पर। गाँव के किसी लड़के को गदानती (समझती) ही नहीं है कोई। सभै अपने को 'ठाकुर' की बेटी समझत हैं।' माधो का मन कसैला-सा हो गया।

"मैं तो आपन फुलमतिया के खुद ही सुरखी-पाउडर ला दूँगा।" माधो फुसफुसाया।

राजू की चिल्लाहट ने उसकी तन्द्रा तोड़ी। गाँव की पंचायत बैठी। दूल्हा-दूल्हन दोनों पक्ष के सब लोग बैठे। गाँव के मुखिया-सरपंच भी आ गए। फैसला हुआ

"यह मुकुन्द की बेटी का सवाल नहीं, पूरे गाँव की इज्जत का सवाल है। फुलमतिया मुकुन्द की ही बेटी नहीं है, पूरे गाँव की बेटी है। हम सब की इज्जत का सवाल है। फुलमतिया का डोला ठाकुर

साहब के दुआर नहीं, राधू के दुआर लगेगा। जरूरत पड़ेगी तो हम सब इस गाँव के लोग भी मदद करेंगे। हम सब डोली के साथ फुलमतिया के ससुराल जाएंगे।” सब ने एक स्वर होकर कहा।

“लाठी चलने पर कोईयो नाय टिकते होन्हे। हमनी सब तो बस जिनगी (ज़िन्दगी) भर हल के पीछू-पीछू छड़ी लेकर बैल हाँकल हैं, कुदाल से माटी कोड़ल हैं, एकाध गैंता भले होगा सगरे गाँव में। हँसिया जरूर है सब औरतवन के पास, जे कटनी खातर ठाकुर साहब देल रहल हैं।”

राधू ऐसे बोल रहा था, जैसे लाठी-तलवार लिए डाकुओं से घिरा कोई निहत्था राही बोल रहा हो, जिसे एक बन्दूक की नली सीधे अपने सीने पर तनी नज़र आ रही हो और दूसरी अपने बेटे माधो पर। उसे फुलमतिया का झोंटा ठाकुर के बराहिल के हाथ में नज़र आ रहा था।

“गैंता, हँसुआ, कुदाल कम होता है क्या? दुसाध टोली की लाठी भी साथ जाएगी।”

“हमारी टोली के जवान भी तैयार हैं।” कई आवाज़ों ने ललकार कर कहा।

“अरे तो यादव कौनो पीछे हँय। बेटी तो हमारे ही गाँव की है फुलमतिया।” दूसरा चिल्लाया।

मनुवादी व्यवस्था में चमरटोली, दुसाधटोली के लोग मुसहरों से बड़ी जात वाले माने जाते हैं। उनका मुसहरों से बेटी-रोटी का रिश्ता नहीं होता। कोई पानी भी नहीं पीता उनके यहाँ। बेटी की इज्जत की लड़ाई में आज सब के सब साथ देने को तैयार हो गए।

“आखिर हम गरीबन की भी तो कोई इज्जत है? इनकर बहू-बेटी की इज्जत है! हमनी के बहू-बेटी कौनो चीज़ में कम है उनकर से? एक धन ही नहीं है न हमरी माँ-बहिनी के पास।” फट पड़ा एक नौजवान।

“जंगल में लाठी की कोउओ (कोई) कमी नाय है चचा”, दूसरे ने राधू को दिलासा दिया।

“बन्दूक है बन्दूक होन्हे” राधू लाठी को बन्दूक की तरह साधते हुए बोला।

“ठीके है। अभिये एक आदमी भेज देत हैं सहदेव ठिन (पास)। वह गाँव के सीमाने आकर अपनी बन्दूक के साथ हमनी संग मिलेगा।

वह एक दुनाली भी रखता है।” मुखियाजी बोले।

‘डोली आइज नहीं, कल जाएगी। हज़ारीबाग रेणुका जी को भी खबर भिजवा देंगे, वहीं से थाना को काबू कर लेवेंगी वे। उनकर सामने ठाकुर साहब के पैसा चाट के भी दुम नाय हिला सकत उ चोड़ा थानेदार!’ सरपंच ने सुझाया।

राधू सोच में पड़ा था। इधर बिरादरी का डर, जग-हँसाई की फिकर, उधर ठाकुर साहब का भय, उसके बराहिलों का आतंक। कुँवर का गुस्सा याद करके तो वह काँप ही गया। बड़ी बहू के साथ किया कुकर्म चलचित्र की तरह घूम गया उसकी नज़र के सामने।

‘सारा गाँव देखत रहा, कोई कुछो नाय बोलले। अब त उ लोग बड़ी बहू के आए ही ना देत हैं। ड्योढ़ी के बाहर सामने की ज़मीन पर छप्पर छान के बसा देल हैं ठाकुर। जब जी चाहे तब ठाकुर साहब बुलाय लेत हैं। कोई बोले वाला ना है टोले-मुहल्ले में। अब बड़ी बहू भी न जाने कौन-सा बैर साध रहल है। खूब इतरा-इतरा के गाँव में चलत है। नयी-नयी साड़ी पींध (पहन) के दिखाए घूमै है। पूरे गाँव के टोले-मुहल्ले के गाली बकत है। मुँहलगी ‘रखनी’ (रखैल) जे बन गेल है उ ठाकुर साहब के। एक खेत भी दे देलक हैं ठाकुर साहब उकरा।’ राधू की नज़रों के सामने एक के बाद एक चित्र उभरते और वह सोच में डूब जाता।

‘इ कुँवर की तो कभियो ठाकुर साहब संग नहीं पटी। कुँवर काला-कलूटा है। न माँ पर गया है, न बाप पर। रानी साहिबा के तो आपन बाप के पैसे का बड़ा घमण्ड है। ठाकुर साहब तो अब उनके पास आए-जाए के भी छोड़ देल है। बड़ी बहू के झोपड़े में पड़े रहत हैं। बस दो वक़्त खाना खाए खातर ही हवेली में जात हैं। बाकी रहना-सोना, खाना-पीना, सब तो बड़ी बहू के साथ होत है। ऐसे तो सुख से रह रहल है बहू वहाँ अब, पर...।’ राधू की सोच वहीं अटक गयी। उसने एक लम्बी साँस भरी।

एक क्षण को राधू के मन में आया कि कह दे ‘आखिर, काहे सब गाँव की शान्ति भंग करे पर तुलल (तुले) हैं? विरोध करके भी का होगा? बड़े बेटे की बहू तो ले ही गेले (गये) न सब! चलो! बहू चल गेल तो बेस ही भैले, सुखी तो है न होन्हे! ई इज़्ज़त का देगी उकरा?’ पर यह बात राधू कह नहीं पाया। माधो का चेहरा देख कर वह चुप रह गया।

“मान ले बप्पा! राजू की शर्त मान ले।” माधो रुआँसा होकर बोला। उसे लगा उसका बाप कमजोर पड़ रहा है। माधो के आगे फुलमतिया का डरा-सहमा आँसू भरा चेहरा घूमने लगा। कभी उसका हँसता चेहरा बड़ी भाभी के चेहरे में बदल जाता डाल से तोड़ कर फेंके फूल जैसा और कभी वह चेहरा उसकी बूढ़ी माँ के झुर्रियों से भरे चेहरे में बदल जाता मसले हुए काले पड़ गए फूल जैसा। अतीत माधो को आतंकित कर रहा था भविष्य भयभीत वर्तमान अस्थिर और दुविधाग्रस्त।

आखिर विदायगी हुई। आजकल गाँव के लड़के भी ‘देसी’ पिस्तौल बनाने लगे थे, सो दो-चार तमंचा और एक आध ‘नली’ साथ में ले लिए। चुपचाप लौट रहे थे सब डोली लेकर। न ढोल, न पिपही। कभी-कभी किसी बूढ़े के खाँसने या किसी बच्चे के रोने की आवाज़ या गाँव के छोर से कुत्तों की आवाज़ें सन्नाटा तोड़ती थीं। इतनी बड़ी बरात किसकी है, कौतूहलवश अगल-बगल के गाँव के लोग देखने निकले। खबर आग की तरह फैल गई। एक नदी ही तो है दोनों ज़िलों के बीच। हजारीबाग के जंगलों में पहुँच रहा था गया का मैदान। बंजर धरती जैसा जीवट से भरा जीवन जीने वाले लोग हरी-हरी अलसाई धरती पर जुट रहे थे। भय की हवा से हरियाली कंपकपा रही थी पर कँकरीली ज़मीन हौसला न हार रही थी। हवा उसका कुछ भी न बिगाड़ पा रही थी। कहारों ने डोली राधू के घर के सामने रोकी। गगन में सूरज सुर्ख हो रहा था। पत्तों से छनती उसकी लालिमा ने फुलमतिया को आशीष दी और फुसफुसाई

“उतर बहू अपने घर चल।”

डूबता हुआ सूरज राधू के मन में उतर गया। मानो वह उसके पेट में पहुँच कर बोल रहा था “बहू को घर ले जाओ राधू।”

राधू ने डोली से पर्दा उठाया। सास ने बहू का घूँघट उठा कर कहा “क्या सुन्दर है रे माधो तेरी बहुरिया (दुल्हन)!” राधू ने डूबते सूरज को अपने अंक में भर लिया था मानो। उसने भय को दबोचते हुए कहारों से कहा

“डोली धर दो।”

डोली धरने की बात ठाकुर साहब को कहनी थी। डोली उनके द्वार पर लगती थी। इस बार अनहोनी हो गई। डोली लिए कहार उसी के

द्वार पर खड़े भांप गये थे पूरे गाँव में छाई एक चुप्पी को एक सन्नाटे को। कनखियों से बतिया रहे थे लोग। मुँह से बोली नहीं फूट रही थी पर कुछ था जो डट गया था।

मन?

दिमाग?

शायद दोनों।

आदतवश राधू बाट जोह रहा था, शायद कोई आकर उसे टोकेगा, उस पर गरजेगा। सो आना था जिसे वह आया। वह गरजा

“क्यों बे राधू, क्या उल्टा दस्तूर चलाता है। डोला यहाँ क्यों लाया है रे। ठाकुर साहब के द्वार पर बहू जुठाई खातर सब नेग (शगुन) तैयार है। क्यों देर करत हो?”

राधू चुप! मूड़ी (सिर) गड़ाए बैठा रहा। माधो से न रहा गया। वह फुलमतिया को उतारने के लिए बढ़ा ही था कि पहलवान की लाठी माधो और फुलमतिया के बीच तन गई।

“नहीं उतरेगी बहू यहाँ। चलो, डोली ले चलो ठाकुर साहब के दुआरी पर!” पहलवानों ने गरज कर कहारों को निर्देश दिया। कहार डोली उठा कर चलने को हुए तो फुलमतिया का भाई गरजा “नहीं जाएगी डोली ठाकुर के यहाँ। जिससे ब्याही है, उसी के द्वार उतरेगी डोली।”

माधो समेत गाँव के नौजवान चिल्लाए “नहीं जाएगी डोली।”

पूरा जंगल हाथ हिला कर बोला “नहीं जाएगी डोली, नहीं जाएगी डोली!” सूरज की लाल रोशनी पूरी की पूरी समा गई इन नौजवानों की आँखों में। एक साथ कई-कई सूरज लाल-लाल चमक उठे, इनकी पुतलियों में।

वहाँ किसी को भी ऐसी आवाज़ की आदत न थी। वहाँ की गलियों, रास्तों, सड़कों और खेतों की धूल ने पाँवों से लिपटना ही सीखा था सर पर चढ़ना नहीं। यहाँ के नदी-नालों में बाढ़ नहीं आती वे सूखना जानती हैं, बस इसलिए वे सूख जाती हैं। वे सिकुड़ना जानती हैं, इसलिए वे सिमट जाती हैं। यहाँ हवा भी आजाद होकर नहीं घूम सकती। वह जंगलों में भटक जाती है, उलझ जाती है। यहाँ के बच्चे-बूढ़े, मर्द-औरत, यहाँ तक कि गाय-गोरू और जानवर भी उनकी आवाज़ के इस तेवर से परिचित न थे। वे सब स्वयं भी

अपनी आवाज़ सुन कर भौंचक हो गए थे।

अब तक जो 'हुकुम हज़ूर' ही कहना सीखे थे उनके मुँह से कैसे निकले ये शब्द 'नहीं जाएगी डोली?' आवाज़ अपनी 'टनक' सुनकर हैरान हो रही थी! क्या उन्हें बोलना आ गया? क्या उनके भाग्य ने भी पलटा खाया? ठाकुर साहब की-सी बोली में वे भी बोल सकते हैं क्या? यह तो अनहोनी है। चमत्कार है! और फिर तो वह दुहराने लगे बार-बार अपना कहा

'डोली नहीं जाएगी! ठाकुर साहब के यहाँ डोली नहीं जाएगी!'

सप्तम स्वर साक्षात् उतर आया था उनकी नरेटी (गल्ले) में।

आज प्रतिरोध नारा बन कर गूँज रहा था।

डर टूटा था, भय का मिथक उनकी आवाज़ की तरावट से भसका था।

गुलामी की एक परम्परा टूटी थी सदियों पुरानी श्रृंखला टूटी थी। हवा भी आज़ाद होकर बहने लगी थी धूल आसमान छूने को थी।

शुरू में इस आवाज़ को सुन कर कुछ लोग भागने लगे थे पर कुछ ठिठक गए थे। जो ठिठके थे वे सर उठा कर सोचने लगे थे, जो सोचने लगे थे वे तर्क कर रहे थे

“आखिर बात तो ठीक ही कह रहे हैं ये। क्यों आज तक हम लोग ठीक और गलत का फैसला ठाकुर साहब की कचहरी, पहलवानों की लाठी पर छोड़ देते रहे हैं?”

वे मन-ही-मन अपने से पूछने लगे थे। वे भी शामिल हो गए आवाज़ों के उस कोरस में। जो भागे थे, वे अब वापस आ गए थे। गूँज अब गरज बन रही थी गरज खूँखार हो ही जाया करती है।

हैरान होने की बारी अब पहलवानों की थी। हड़बड़ा कर एक पहलवान फुलमतिया को पकड़ने के लिए बढ़ा। माधो अपने को रोक नहीं पाया। वह बड़े भाई की तरह मैदान छोड़ कर नहीं भागेगा। वह रोएगा भी नहीं। वह फुलमतिया को 'भौजी' नहीं बनने देगा, न ही वह उसे अपनी 'माँ' की जिन्दगी दुहराने देगा। उसने पहलवान पर लाठी का एक वार दे मारा, फुलमतिया को घर में घुसा कर किवाड़ बन्द कर दिया और जवाबी हमले के इन्तज़ार में ही था कि ताबड़-तोड़ लाठी चलने लगी। फुलमतिया के मायके के दुसाध, चमार, यादव,

कोयरी सभी की लाठी आज भिड़ गई थी, बाबुओं की लाठी से। यह एकता की लाठी थी जो जबर थी न्याय के लिये जुटी थी यह किसी स्वार्थ या राजनीति की लाठी न थी। बाकी सभी गाँवों के लोग, जो वहाँ जमा थे राधू को ललकार कर उसका साथ दे रहे थे! इस लाठी को आज माधो और राधू की एकता की मजबूत मुट्ठी पकड़े हुए थी, इसलिए जब बरसती थी यह लाठी, तो बरसों से चुप और सहमी आवाज़ 'सटाक-सटाक' जबान भी चलाती थी।

इसी बीच सहदेव यादव दुनाली बन्दूक लेकर पहुँच गए। भुइयाँ टोली के मुसहरों की सदियों की दासता के भार तले दबी और जड़ हुई संवेदना आज जगी थी। पत्थर बनी संवेदना आज अहिल्या-सी उठ बैठी थी पर उसके लिए उन्हें किसी राम के पाँवों की ज़रूरत नहीं पड़ी थी। आज शम्बूक के कटे सर से बहते खून ने उसे पत्थर से अहल्या बना दिया था। आज 'कफन' के 'धीसू-माधव' की जड़ता का नशा फट गया था।

बस 'बुद्ध' की तरह उनको अपने भीतर एक ज्ञान हुआ था और शायद 'मुहम्मद' की तरह इलहाम भी। इलहाम कि वे आदमी हैं, गुलाम नहीं। सभी बराबर हैं। ज्ञान कि वे भाग्य के बँधुआ नहीं, किसी पिछले जन्म का फल भी नहीं कि उनकी आवाज़ में, उनके हाथों में, वैसी ही ताकत है जैसी ठाकुर साहब के या उनके बराहिलों की आवाज़ या हाथों में है। यह कि वे भी उनके बराबर हैं उनसे भी ज़्यादा अच्छी लाठी चला सकते हैं। यह कि उनकी बहू-बेटी की भी वही इज्जत है, जो ठाकुर साहब की बहू-बेटी की है। यह भी कि वे भी इंसान हैं।

इस ज्ञान, इस इलहाम के बाद भुइयाँ टोली के मुसहरों को कौन गुलाम रख सकता था? उनका दिमाग खुल गया था। वे जान गए थे कि "उन्हें आज तक गुलाम बना कर रखा गया था। यह कि, यह सच नहीं। उनकी गुलामी भाग्य का फल है, यह एक साजिश थी। बहुत बड़ा झूठ था, जिसे हम जीते रहे।"

राधू के आँसू थम नहीं रहे थे। वह भय से मुक्ति के आँसू थे और थे खुशी के आँसू। उसने आज तक केवल भय ही जाना था। वह दुःख भी नहीं जानता था चूँकि उसने कभी सुख का स्वाद चखा ही नहीं था। आज उसने सुख को 'चीह' (पहचान) लिया था। उसने

इंसान बनने का सुख महसूस किया था। सुख-सुख! हाँ उसने आज सुख भोगा था। इंसान बन कर जीना कितना सुखकर लग रहा था उसे। वह खड़ा हो गया तन कर, पूरा इंसान बन कर। उसने जान लिया था कि उसके पास गंवाने को कुछ नहीं, इसलिए उसे लड़ना है।

इतनी जुट कर डटी हुई लाठियों के आगे, सौ पहलवान भी होते तो क्या करते? पहलवान भाग कर हवेली की झ्योड़ी में गए। कुँवर का गुस्सा तो ऐसे ही सातवें आसमान पर रहता था। पाँचों नाल बन्दूक निकल आई। तब तक सहदेव यादव ने अपने गाँव खबर भेज दी। अब तो अगल-बगल के गाँव में खबर फैल गई। ठाकुर साहब का गाँव युद्ध-स्थल बन गया। डोली राधू के द्वार पर रखी थी। फुलमतिया अपनी सास के साथ घर के अन्दर थी। पूरा गाँव राधू का 'दुआर छेक' (द्वार रोक) कर, घर घेर कर बैठ गया था। ठाकुर साहब आएंगे ही, सब जानते थे।

थाना को भी खबर हो गई थी। इधर से ठाकुर साहब आ ही रहे थे कि थानेदार भी जीप में आ पहुँचा। अगल-बगल के गाँवों के मुखिया और मानिन्द लोग जमा हो रहे थे। सवाल यह था कि किस कानून के तहत 'बहू-जुठाई' की रस्म चालू रखी जाएगी? न थानेदार के पास जवाब था, न मुखिया या सरपंच के पास और उधर समूचा गाँव यानी कि पूरे के पूरे लोग गाँव छोड़कर जाने को तैयार थे।

“रहें ठाकुर साहब अकेले ही आपन हवेली में, पन अब बहू का डोला नाय जैते उनकर घर।” अडिग था गाँव।

मरने-मारने को तैयार इतनी बड़ी जमात एक तरफ, मारने पर उतारू पहलवानों की छोटी पर सजी-धजी, पूरी तरह हरबे-हथियार से लैस जमात, दूसरी तरफ। वार के लिए दोनों तैयार।

“चलावा गोली ठाकुर साहब। आपन करेजा ठंडा कर लेव। हमनी तो मरवे करेंगे पन (पर) याद रखवै तोहनी सब में से एक्को गो (एक) भी ज़िन्दा नाय लौटत।” माधो ने ललकारते हुए कहा।

राजू ने अपनी 'देसी' (बन्दूक) की नाल कुँवर साहब की तरफ कर दी थी। पहलवान ठाकुर साहब का मुँह ताक रहे थे।

क्या आदेश देते हैं ठाकुर? थानेदार भी अकबका गया था। उसमें दम नहीं था कि राजू को पकड़ ले। गोली चलेगी तो जवाबदेह तो वही होगा, फिर हजारीबाग से भी वायरलेस आ चुका था।

ठाकुर साहब सोच में पड़ गए ‘थानेदार के नौकरी पर आँच आयत (आयेगी) तो सरवा (साला) पलट जायब। फिर कल से खेती-बाड़ी का का होत? इतने कमियाँ कहाँ से पावेंगे?’

“क्या सोचा आपने ठाकुर साहब?” सहदेव ने पूछा!

“समय के साथ चलिए। अब पुरानी चाल छोड़िये बाबू साहब। वह युग बीत गया है अब। अब इनके मुँह में भी जबान आ गई है। अभी तो इनके हाथों में लाठी ही देख रहे हैं आप, ज्यादा जुल्म करिएगा तो बन्दूक भी आ जाएगी। अपने दुश्मन पैदा मत कीजिए। कल से खेत में कोई हल नहीं जोतेगा, न ही कोई बेगारी खटेगा! अब ये आपके बंधुआ नहीं रहे। अब तक इनसे आप सूद-मूल दोनों ही वसूल चुके हैं। इनकी माँ-बहन, बहू-बेटी अब इनकी अपनी हैं। वे अब आपके मूल का सूद नहीं हैं। सोच लीजिए। खबर हजारीबाग भी जा चुकी है।” सहदेव ने ताकीद की।

थानेदार ने आँखों-ही-आँखों ठाकुर साहब को समय की नज़ाकत के बारे में समझाया। ठाकुर साहब चुपचाप लौट पड़े।

“ठीक है आज नहीं तो कल सबक सिखाएंगे।” जाते-जाते कुंवर कहता गया।

माधो कुछ कहने ही जा रहा था कि उसका बड़ा भाई भीड़ को चीरते हुए कहीं से आ गया।

“हम भी सबक सिखाना सीख गए हैं कुँवर। कल की बात कल देखेंगे।” माधो का भाई जोर से हँसा। पूरा गाँव ठठा कर हँस दिया।

गोया पहली बार उस रात हवेली का दरवाजा दहला, उसकी दीवारें काँपी। रात भर मुँडेर पर चौकीदार ने ‘अगोरा’ किया। पहली बार शायद कोई मुँडेर टूट कर गिरी, जिसे गाँव भर ने देखा।

राधू की आँखों से झरती बूँदों की झड़ी में, भीतर से आती फुलमतिया की हँसी झिलमिला रही थी।

चन्दा मर नहीं सकती

चन्दा की चुप्पी पूछ रही थी अपने आप से, “इतने बरस मैंने क्यों सहा वह जुल्म? क्यों गँवाए ज़िन्दगी के वे सुनहले बरस वे चाँदी-से क्षण वे अनमोल घड़ियाँ, जो मैं माणिक के साथ बिता सकती थी क्यों इतनी देर लगी मुझे मुक्त होने का निर्णय लेने में क्यों?”

क्यों का जवाब खोजती उसकी आँखें आँसू से भर-भर आ रही थीं। आँसू की धार में झिलमिलाने लगे थे उसके बचपन के वे दिन, जब केदला कोलियरी में वह अपने बाबू चन्दन और माँ मानकूँवर के साथ रहती थी। यूनियन के संघर्ष में माँ के साथ वह भी जब झंडा लेकर सबसे आगे रहती, तब केदला के कोयला-खदानों के गिर्द उगे पलाश के वनों में टहकते लाल टेसू के फूलों और लाल झंडों में होड़ लग जाती थी।

केदला कोलियरी के सरकारीकरण की माँग को लेकर कोई धरना-प्रदर्शन हो या हड़ताल का आह्वान, तीन नम्बर ब्लॉक गोपालशरण बाबू की खदान का चन्दन सरदार और उसकी सरदारिन मानकूँवर बाई हमेशा आगे रहते थे। शुरू से ही वे यूनियन के साथ थे और रेणुकाजी की ललकार पर मर-मिटने को तैयार रहते थे। उनकी खदान में रामबदन सिंह, उदय सिंह, चन्द्रशेखर सिंह आदि कई मुंशी थे पर भुगतान करने वाले रामबदन सिंह और नाथेश्वर सिंह ही थे, बाकी मुंशी लोग नापी करते ‘अरखा’ (कार्यस्थल) बाँटते। माइनिंग बाबू तो खदान में होता ही नहीं था। न ही कोई मैनेजर होता था। सब काम नाथेश्वर सिंह और रामबदन के ही जिम्मे था। कभी-कभी उदय सिंह

भी हाथ बंटा देता था। जबसे यूनियन बनी, तब से उन्हें मज़दूरों का बी-फार्म भी बनाना पड़ता था। पहले तो मज़दूरों के नाम बस मुंशी बाबू की डायरी में ही दर्ज रहते थे। मुँह-अँधेरे लोग खटने आ जाते थे और बेला डूबने पर जाते। कोई टाइम नहीं था खटने का। वहाँ सबके-सब पीस-रेटिड (ठीका) मज़दूर थे, इसलिए जितना खटते उतना पाते थे। चन्दन सरदार को मज़दूरों की मज़दूरी से 'दस पैसा रुपया' की दर से सरदारी (कमीशन) भी मिल जाती थी। यूनियन गठन होने के बाद सरदारी बन्द करवा दी गई थी और चन्दन को यूनियन का लीडर बना दिया गया था। सरदारों का कमीशन भले बन्द हो गया था पर रुतबा बरकरार था और हड़ताल के समय काम बन्द करवाने का जिम्मा भी उन्हीं का रहता था।

बिलासपुरिया मज़दूरों में चन्दन के साथ सियाराम, दादूराम, सरजूराम, रामाराम, रामचन्द्र, केदार तथा राजाराम जैसे पुराने सरदार भी थे, जो अब यूनियन के धाकड़ लीडर थे। युवा मज़दूरों में जोहित, मोहित, बलदेव, अमीर खान और साधु राम थे। हालाँकि चन्दन की पत्नी मानकुँवर को भी लोग सरदार की पत्नी के नाते सरदारिन कहते थे पर चन्दन की तरह ही औरतों में भी एक सरदारिन थी। वह बहुत बहादुर थी। पति नहीं था पर पन्द्रह मज़दूरों का दंगल अकेले चलाती थी। बाकी मज़दूरों पर भी उसका दबदबा था। वह सरदारिन चन्दा की आदर्श थी।

रेणुकाजी जब आतीं तो चन्दन सरदार के यहाँ ठहरतीं! वहीं खाना भी खातीं। लहसुन की चटनी और 'चिरोटा' के पत्ते की भाजी बड़े प्रेम और चाव से चन्दन की सरदारिन बनाती। वह उन्हें पत्तों पर सेंक कर चावल के आटे का 'मोटा रोट' बड़े चाव से खिलाती थी। हड़ताल के दिनों में तो रेणुकाजी तीन नम्बर ब्लॉक में ही जम कर बैठ गई थीं। तीन नम्बर ब्लाक झारखंड और केदला कोलियरी के बीचोबीच पड़ता था। दोनों सरदारिन हड़ताल के दिनों में चूहे की बिलों से बीन कर धान लातीं और उबले पत्तों के साथ रेणुकाजी को खिलाती रही थीं। उनके दुःख में साथ रही थीं नेता जी। वे भी उन्हीं की तरह रहती थीं। पत्ते के छोटे-छोटे घरों में जहाँ मानुष सीधा खड़ा नहीं हो सकता था, वहाँ सुअर, बकरी या मुर्गी भी मज़दूरों के साथ घर के अन्दर ही रहते थे। उसी में छोटी खटिया पर धड़, टीन पर पाँव और स्टूल पर सर

टिका कर चन्दन की सरदारिन रेणुकाजी को सुलाया करती थी। ठेकेदारों के हमले से बचने के लिए रेणुकाजी रात में रोज़ घर बदलती रहती थीं। चन्दन की सरदारिन और बड़ी सरदारिन कभी उनका साथ नहीं छोड़ती थीं। वे सदैव ही उनके साथ-साथ रहती थीं। बिलासपुरी औरतें जगकर रात भर पहरा देती कि कहीं कोई पहलवानों का दल नेता जी पर हमला न कर दे। नहाने को कोई घर नहीं था, तो औरतों को एक लाइन में खड़ा कर देती थी सरदारिन और मानकुँवर। रेणुकाजी औरतों की इस ज़िन्दा ओट में पत्थर पर बैठकर नहार्तीं। कभी-कभी कोई कामिन रेणुकाजी की तरफ मुँह घुमा लेती थी, तो वे हड़बड़ा जातीं।

“का है माँ हम सबै औरत तो एके जैसन हैं, जैसन हम वैसने तै भी हैं, हमर से शर्म काहे करत हो मैय्या?” कह कर सब की सब हँसकर उनकी तरफ घूम जातीं। चन्दा को यह सब बहुत अच्छा लगता था। खेल-खेल में वह माणिक और अन्य बच्चों के साथ ठेकेदारों और रेणुकाजी की लड़ाई का खेल खेलने लगती और खेल के अन्त में वह जुल्मी ठेकेदार को जरूर अपनी टाँगी से काटने का अभिनय किया करती थी।

ऐसे ही हँसते-खेलते और संघर्ष करते, खतरे झेलते, हड़ताल के दिन पार हुए थे। यह हड़ताल लम्बी थी उसके अंजाम का सपना बड़ा लुभावना था। खदान सरकारी होगी, सबको सरकारी नौकरी मिलेगी, सबकी हाज़िरी लगेगी, सबको फोटो वाला पहचान-पत्र मिलेगा, सबको वेजबोर्ड से पैसा मिलेगा, हाज़िरी में औरत को मलकट्टे के बराबर ही पैसा मिलेगा जो अभी कम था। जब खदान सरकारी हो जाएगी तो “हम कौन हैं लिख कर दो”, “हमारा वेतन क्या है लिख कर दो” का नारा सच हो जाएगा। यहीं सपना उन्हें इस लम्बे कष्टदायक, खतरनाक संघर्ष में भी बुलन्द रखता था।

सभी औरतें, खासकर बिलासपुरी औरतें रेणुका जी पर अपना खास हक समझती थीं। वे हर लड़ाई में उनके साथ ही नहीं, उनसे आगे रहती थीं। वे उनकी रक्षा भी करती और संघर्ष को संचालित भी।

तब चन्दा छोटी थी पर इतनी छोटी नहीं थी कि उसे कुछ याद ही न हो। चन्दन सरदार की सरदारिन मानकुँवर ने उसे गोद ले लिया

था चूँकि उसका अपना कोई बच्चा नहीं था। उनके देश के लोग बाँझ औरतों को प्रायः डायन कह कर मार देते थे। हालाँकि यहाँ परदेस में मारना तो आसान नहीं था खास कर यूनियन बनने के बाद लेकिन क्या पता कल देस लौटने पर क्या हो? इसलिए उस सरदारिन ने एक गोंड लड़की चन्दा को गोद ले लिया था। बाबू लोग जानते थे यह उसकी बच्ची नहीं है पर। नाथेश्वर बाबू, जो हमेशा मज़दूरों और यूनियन के मददगार रहे, ने सरदार-सरदारिन को आश्वस्त कर दिया था।

“फिकर न करो, काग ज़ सब ठीक रहेगा। खान सरकारी होगी तो सब सुविधा मिलेगी। इस बच्ची का नाम ‘नामिनी’ (आश्रित) में चढ़ा होगा तो काम आएगा फ़ैदा (फायदा) होगा।” नाथेश्वर सिंह ने उन्हें बताया था।

चन्दा को आज भी याद है, जब रेणुकाजी ने तीन नम्बर ब्लॉक में उस पुलिया को तोड़ने का आदेश दिया था, जो झारखंड को केदला से जोड़ने का एकमात्र साधन थी। उसी रोड से कोयला ले जाने वाले ट्रक गुजरते थे। पुल टूट जाने पर फिर कोई गाड़ी वहाँ घुस ही नहीं सकती थी। कुछ लोडरों ने हड़ताल नहीं की थी। इसलिए ट्रक रोकने के लिए पुल तोड़ने के अलावा कोई दूसरा चारा भी नहीं था। सरदारिन और चन्दन की पत्नी मानकुँवर ने आगे बढ़ कर पुल तोड़ना शुरू किया तो सभी मज़दूर साथ लग गए। चन्दा भी उस मुहिम में माँ के साथ थी, चूँकि बच्चों को मज़दूर काम पर साथ लाते थे इसलिए संघर्ष में भी वे उनके साथ ही रहते थे। फिर तो मज़दूर पिल पड़े थे और देखते-देखते पुलिया ध्वस्त हो गई थी। पुलिस आई पर कोई टस-से-मस नहीं हुआ। कई लोगों पर केस हुआ, जो कई बरसों तक चला। चूँकि कोई गवाह ही नहीं मिला इसलिए केस समाप्त हो गया। उस दिन पुलिस की हिम्मत नहीं हुई किसी मज़दूर को गिरफ्तार करने की। पुलिस को पुल तोड़ने वाले मज़दूरों का नाम दर्ज करवाने वाला मात्र एक दलाल मुंशी उदय सिंह मिला था, जिसने केस में सब मज़दूरों के नाम लिखावाए थे। उसने कामिनों के नाम तो नहीं दिए पर बाद में वह कई सप्ताह तक ‘वारंट निकलवा दूँगा’ कहकर उन्हें केवल ठगा ही नहीं करता था बल्कि ब्लैकमेल भी करता था। सब उससे नफ़ रत करते थे। कामिनों के प्रति उसकी नज़र अच्छी नहीं थी। रामबदन, नाथेश्वर सिंह और चन्द्रशेखर

सिंह भी तो थे वहाँ। मज़ाल है कभी उन्होंने किसी को भी बुरी नज़र से देखा हो। दरअसल आदमी नज़र से ही पहचाना जाता है! चन्दा को तब भी उदय सिंह कभी अच्छा नहीं लगा था। चन्दा को उसकी नज़र से नफ़्त थी।

केदला कोलियरी में सरकारीकरण की माँग को लेकर डेढ़ साल तक हड़ताल चली थी। जब कोर्ट से कोलियरी बन्द करने का आदेश आता तो ठेकेदार खदानें बन्द देते और जब ठेकेदार कोर्ट से खदानें चलाने का आदेश लाते, तो मजदूर हड़ताल कर देते थे। इस प्रकार कोलियरी बन्द ही रहती। लम्बे अरसे बाद नान-कोकिंग खदानों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही पुनः सरकार ने केदला-झारखण्ड खदानों के सरकारीकरण का आदेश जारी किया था।

सरकारीकरण तो हो गया पर मजदूरों की बहाली को लेकर एक लम्बी लड़ाई चली। ठेकेदार रजिस्टर लेकर भाग गए थे। सरकारी अधिकारियों को रिसीवर से केवल ब्लॉक नम्बर तीन और नौ के रजिस्टर मिल पाए थे चूँकि वहाँ यूनियन ने अपने संघर्ष के बल पर खदान के राष्ट्रीयकृत होने से पहले ही रिसीवर के तहत विभागीय करवा लिया था। चन्दन और उसकी सरदारिन दोनों नौकरी पा गए थे। मगर कई मजदूर नौकरी नहीं पा सके थे। वे छूट गए थे। तीन नम्बर ब्लॉक के सभी लोडर काम पा गए थे। उनमें अधिकांश गया और औरंगाबाद जिला के नुनिया थे। प्रायः उनके गाँव का जमींदार ही उनका ठेकेदार भी होता था। इसलिए ये उसके आतंक में जीते थे। ठेकेदार की यह धमकी कि 'गाँव में चल वहाँ देखेंगे तुझे' उन्हें यूनियन में शामिल होने से रोकती थी। वैसे उस दंगल में एक-दो बिलासपुरिया भी थे। शुरू में तो सभी नुनिया लेबर प्रबन्धन की दलाली करते थे पर बाद में सरकारीकरण की माँग पर वे भी हड़ताल में शामिल होकर यूनियन के साथ आ गए थे। उन सबके लिए केस लड़कर यूनियन ने रिसीवर के खाते में उनके नाम चढ़वा दिए थे हालाँकि सरकारीकरण के इस संघर्ष के दौरान लोडरों ने प्रायः ठेकेदारों का साथ दिया था, यूनियन का नहीं। पूरे केदला-झारखंड क्षेत्र में इन अठारह लोडरों को छोड़कर किसी लोडर की बहाली नहीं हो पाई थी। इसलिए यूनियन को कोलियरियों के राष्ट्रीयकरण के बाद भी वर्षों तक ऐसे जायज लोडर मजदूरों की बहाली की लड़ाई लड़नी पड़ी थी। केदला के ठेकेदार मामा

बाबू और पी. डी. अग्रवाल ने तो मज़दूरों के रिकार्ड ही जमा नहीं किए। ठेकेदारों ने मज़दूरों के जो रिकार्ड बाद में दिए भी, वे एकदम जाली थे। मुंशियों ने पैसा लेकर नए मज़दूरों के नाम चढ़ा दिए थे। यूनियन ने जमकर इन जाली रिकार्डों का विरोध किया था, इसलिए यूनियन के रिकार्ड पर ही मज़दूरों की बहाली हो रही थी। हड़ताल से पहले या हड़ताल के दौरान लेबर इन्फोर्समेंट ऑफिसर के यहाँ ठेकेदारों ने मज़दूरों से अगर यूनियन के खिलाफ भी कोई शिकायत पत्र या आवेदन दिलवाया था, तो उसमें दर्ज शिकायत करने वाले मज़दूरों के नामों को भी यूनियन और प्रबन्धन ने बहाली योग्य माना था।

चन्दा सयानी हो गई थी। मानकुँवर माणिक के साथ उसका ब्याह कर देना चाह रही थी। माणिक लोडरों के दंगल सरदार सरजू का बेटा था। वह भी गोंड था। चन्दन का गोत्र दूसरा था पर चन्दा गोंड थी। उसको दूसरे गोत्र वाला कैसे ब्याहता? सो गोंड लड़का ही खोजा गया था। कोलियरी में वालंटरी रिटायरमेंट लागू हो गई थी और लड़का-लड़की या दामाद को नौकरी देकर मज़दूर स्वेच्छा से रिटायरमेंट ले सकते थे। कोयला एग्रीमेंट की धारा 9.4.2 में मरने पर भी एक नौकरी मिलती थी। इसी बीच चन्दन सरदार मर गया। नाथेश्वर सिंह ने काफ़ी दौड़-धूप की। उदय सिंह को मालूम था चन्दा सरदार की अपनी बेटा नहीं है, न ही वह सरदार की जात है। वह मानकुँवर को आकर धमका गया था। मानकुँवर ने कुछ दे दिला कर उसका मुँह बन्द कर दिया। रेणुकाजी तक बात नहीं पहुँची थी। चन्दा बेहद डर गई थी। उसे बाप के बदले नौकरी तो मिल गई पर उदयसिंह जो उसी की पोखरी में मुंशी बाबू बन कर आ गया था, ने हर रोज़ की टोका-टोकी शुरू कर दी थी। अब मानकुँवर भी देस लौट जाना चाहती थी। इधर माणिक का घर में आना-जाना बढ़ गया था। चन्दा भी उससे घुल-मिल कर बतियाती थी। सरजू गोंड से बातचीत कर चन्दा का ब्याह माणिक से इस शर्त पर पक्का हो गया कि मानकुँवर अपनी नौकरी माणिक को देगी। मानकुँवर तो पहले से ही यह चाहती थी। दोनों एक ही पोखरी में ड्यूटी करने लगे।

दिन पर दिन चन्दा निखरती जा रही थी। उदय को जब पैसा घटता वह चन्दा को धमकाने पहुँच जाता चन्दा मानकुँवर के पास आकर रोती और पैसा दे कर उदय का मुँह बन्द कर दिया जाता। अब

सरदारिन भी ज़्यादा दिन बेटी-दामाद के पास नहीं रह सकती थी। देस में ज़मीन को देखने वाला कोई नहीं था। वह देस चली गई। चन्दा के सिर पर खतरे की लटकती तलवार अब और ज़ोर-ज़ोर से हिलने लगी थी।

चन्दा ने माणिक को सब बता दिया था, इसलिए वह भी उसका राज़दार था। उसे चन्दा से और चन्दा को उससे बेहद प्यार था। बचपन का लगाव शादी में बदल कर पुख्ता हो गया था। बचपन में भी जब कोई चन्दा को धमकाता तो माणिक उसे बचाता था। डराने वाला जबर होता तो माणिक चन्दा को लेकर भाग जाता या दूर से ढेला चलाता। चन्दा की नज़रें बराबर उसे ही खोजती रहती थीं।

“जिस चन्दा की बदौलत पैसा मिलता है अगर मैं उस चन्दा को ही हथिया लूँ, तो सब दौलत मेरी हो जाएगी।” इसी योजना के तहत मुंशी उदय सिंह ने अब चन्दा को वश में करने के लिए तरह-तरह के पासे फेंकने शुरू किये। वह जानता था माणिक पैसा नहीं देगा उसे। अब उदय की नज़र केवल पैसे पर नहीं, चन्दा पर जम गई थी।

“मेरी बात मान ले चन्दा, तेरी नौकरी मेरी मुट्ठी में है। तू गोंड है चन्दन सतनामी है... तू उसकी बेटी नहीं है, नहीं मानेगी तो तेरी नौकरी चली जाएगी। देख! मैं तुम्हें सब सुख दूँगा।” उदय ने धमकी और लालच का दाव चला।

अब क्या करे चन्दा? उसने स्वयं पसन्द किया था माणिक को। दोनों के प्रेम को देख-सुन ही सरदारिन ने उनका ब्याह करवा दिया था। माणिक की नौकरी तो सरदारिन के कागज़ पर दामाद के नाते हुई थी, इसलिए अगर चन्दा की नौकरी जाली साबित होगी तो उसकी नौकरी भी चली जाएगी। माणिक यह जानता था, कि उसे दामाद के नाते नौकरी मिली है। इसलिए चन्दा की नौकरी बचाना जरूरी था। इस बीच चन्दा को माणिक से एक बेटा भी हो गया था और वह फिर पेट से थी।

चन्दा पहले तो उदय को दुत्कारती रही, फिर टालना शुरू कर दिया। आजकल-आजकल करते-करते एक दिन उदय सिंह उसके घर पर ही आ धमका। माणिक और चन्दा खाना खा रहे थे।

“का खाना हो रहा है। हमको नहीं खिलाएगा माणिक। जा मुर्गी ले आ। हम सब मिल कर खाएंगे।” उदय अन्दर आते ही बोला। अब भला मुंशी बाबू की बात कौन टाले? माणिक मुर्गा लेने चला

गया। उदय ने चन्दा को दबोच लिया। वह कितना ना-ना करती रही, पर कब तक?

“चिल्लाएगी तो क्या कहेंगे लोग? फिर उदय बाबू कल ही शिकायत कर देगा। हाजिरी बन्द हो जाएगी। क्या खाएंगे वे लोग? कैसे पालेंगे परिवार को? माणिक की नौकरी भी खा जायेगा यह ‘चोट्टा’!”

चन्दा भीतर ही भीतर तर्क कर रही थी। मन तो होता था दो झापड़ मारकर गिरा दे उदय सिंह को। फिर मन होता भाग जाए पर नौकरी का क्या होगा? भाग कर भी कहाँ जाएगी? नौकरी भी तो चली जाएगी। उसके बाबा की दी हुई नौकरी उसकी माँ की धरोहर नौकरी! काश! वह मानकुँवर के पेट से पैदा हुई होती। माँ ही तो थी मानकुँवर उसकी, कहाँ फर्क माना था उसने कभी। ज़मीन भी तो उसी के नाम कर दी थी मानकुँवर ने, फिर यह कैसा कानून है जो उसे बेटी नहीं मानता?

उदय सिंह दारू साथ ही लाया था। गिलास में ‘ढार’ कर पीने लगा। जब तक माणिक मुर्गी लाया दारू का एक दौर चल चुका था। चन्दा को भी जबरन दारू पिला दी थी उदय ने। जबरन ही वह चन्दा को नंगा भी कर चुका था। उदय ने माणिक की तरफ दारू का गिलास बढ़ाया।

माणिक की नज़र चन्दा से मिली। चन्दा की बेबसी उसकी आँखों में घिर आई थी और माणिक की नज़र धुँधला रही थी। ज्यादा देर न सह पाया वह उस अन्धेपन को। वह उठकर बाहर चला आया मुर्गी पकाने।

अन्दर से उदय की बड़बड़ाहट की आवाज़ तेज हो रही थी इधर माणिक जोर-जोर से हँड़ियाँ में कड़खुल चलाता जा रहा था चन्दा की सिसकियाँ इन दोनों आवाज़ों में कहीं खो गई थीं।

अन्दर से आवाज़ आनी बन्द हो गई थी। बस, चन्दा की सिसकी यदा-कदा सुनाई पड़ रही थी या गिलास में उड़ेली जा रही दारू की आवाज़ या फिर गट-गट उसे पीने की आवाज़। माणिक मुर्गी भून चुका था। शोरबे के लिए उसमें ढेर सा पानी डाल कर माणिक उसके गदकने की आवाज़ सुन रहा था। चन्दा की ज़िन्दगी में आग लग चुकी थी। चन्दा झोपड़ी के अन्दर गदक रही थी मुर्गी बाहर चूल्हे पर। दारू पर दारू का गिलास उड़ेले जा रही थी चन्दा। आग अगर बुझे नहीं तो कम-से-कम दारू से उसकी दाह तो न लगेगी।

पानी पड़ने से ही आग की पीड़ा ज्यादा महसूस होती है। चन्दा पी कर होश खो चुकी थी, माणिक होश में था, उदय सिंह मदहोश था। मुर्गी पक कर आई उदय खाता रहा, अधनंगी पड़ी चन्दा के मुँह में ठूसता रहा माणिक नंगी-आँखों से सब देखता रहा। अन्दर ही अन्दर रोता रहा। कुछ बोलेगा तो कल हाजरी-बही से दोनों के नाम कट जायेंगे। कमाई बन्द। उनके माँ-बाबा की वर्षों की लड़ाई से हासिल सरकारीकरण के फलस्वरूप पाई सरकारी नौकरी खा जाएगा उदय बाबू! एक बार तो उसका मन हुआ मुर्गी की हड्डियाँ दे मारे उदय के सर पर। पेट में लात मार दे उसके और अपनी चन्दा को उससे मुक्त करा ले। उसकी सोच पर उसकी जबान पर उसके हाथों में तो नौकरी के ताले पड़े हुए थे। नौकरी! नौकरी! जिसके लिए डेढ़ वर्ष हड़ताल की थी उसके बाप और सास-ससुर ने। वे लोग इसी नौकरी की खातिर कितनी बार जेल गए थे।

इसी सपने के लिए तो वर्षों तक ठेकेदारों से लड़ाई चली थी। ठेकेदार ने भी ऐसा जुल्म नहीं किया था पर यह सरकारी नौकरी वाले मुंशी? कौन-सा कानून है यह?

उदय सिंह उनके लिए 'जम' था, 'काल' था! काश! माणिक 'जमराज' बन सकता! पर नौकरी?

अब हर रोज उदय सिंह माणिक के घर रात में आ धमकता। माणिक यन्त्रवत् कमरे से बाहर हो जाता फिर दारू का कड़ा खुलता एक आध माणिक को भी मिलता हफ्ते के रोज मुर्गा भी आता, कभी खस्सी आता, रात भर उदय सिंह अन्दर और माणिक बाहर। सर्दी की रात में माणिक बाप के धौड़े में चला जाता।

पूरा धौड़ा जान गया था पर कोई ज़बान न खोल पा रहा था। सब जानते थे चन्दा चन्दन की बेटी नहीं पर बेटी से ज्यादा थी लेकिन कानून तो बेटी को मानता है। उसके दायरे में बेटी से ज़्यादा की भावना की कोई जगह नहीं है। माणिक से चन्दा के अब तक तीन बेटे हो चुके थे।

माणिक का मन मुझा गया। कितने अरमानों से चन्दा को ब्याह कर लाया था। सब चौपट हो गया था।

“कहीं दूसर ठिन बदली करवाय ले, तभै इस जालिम मुंशी से पीछा छूटत।” चन्दा कहती।

“पन बदली ही तो नी (नहीं) हो सकत है न हमर के। हमनी तो पीस-रेट मलकट्टा हबै (हैं)।”

“तब तैंहर (तुम) आने (दूसरी) डौकी ले आबा। मोला (मेरे) तो दोनों जहान नास होय गबे (गए)। तैंहर (तुम) काहे ल मोला (मेरे) खातर नास होए रहल हबा? तैंहर (तुम) आने (दूसरी) डौकी (औरत) ले आवा, वोकरे संग रहा। मोला (मुझे) इकरा संग रहे देब। जहाँ तक पारब (हो सके), रहब। नौकरी बचावा। मोर बेटा सयान होय जाब त वोकर (उसे) नौकरी देय के हूँ (मैं) ज़मीन अगोरे के देस चल जाब। तैंहर (तुम) इहाँ (यहाँ) संसार चलय लेब।”

दोनों में एक अलिखित समझौता हो गया। चन्दा उसके दर्द को समझ रही थी पर नौकरी उन दोनों की मजबूरी थी। करें तो क्या करें वे? चन्दा स्वयं अपनी रिश्ते की बहन को माणिक से ब्याह कर ले आई और माणिक का घर बसा दिया। सारा धौड़ा चन्दा को सराह रहा था। वे सब मुंशी और चन्दा के रिश्ते को जानते थे, उसकी मजबूरी भी समझते थे। फिर कोलियरियों में ऐसा नित-दिन चलता ही रहता है। यह आम बात है। इसके लिए किसी को समाज से बाहर नहीं किया जाता दवाब या राजी-खुशी से ऐसा होता है। हाँ अगर पुरुष न चाहे, तो वह ऐसी औरत को डायन कहकर समाज से बहिष्कृत ही नहीं करता, मरवा भी सकता है।

पर यहाँ तो माणिक समाज के आगे चन्दा के पक्ष में पहाड़ बनकर खड़ा था।

सो समाज ने चन्दा की मजबूरी को कबूल कर लिया था। दरअसल सबसे बड़ी बात यह थी कि चन्दा कोई जात वाले के साथ थोड़े ही फँसी थी, यह तो मुंशी बाबू था, उसके आगे कौन बोले? माणिक न भी हिमायत करता चन्दा की, तो मुंशी बाबू का रुतबा और डर चन्दा को डायन करार नहीं होने देता। चन्दा खुद भी जबर थी। उसने अपनी समस्या कई बार समाज के सामने रखी थी पर सभी मौन रह गए थे। सबको अपनी हाज़िरी कटने, कमाई में कमी होने या किसी-किसी को जो दूसरे के कार्ड पर खट रहे थे, अपनी नौकरी जाने का डर था। टट्टी-पेशाब जाने पर रोक लगा दे सकता था मुंशी बाबू। फिर ‘लेट-सेट’ होने पर झट से ‘आऊट’ (बाहर) कर हफ्तों उन्हें ‘इन’ (अन्दर) करने के लिए अलग ‘झुलाता’ (लटकाता) वह। अब तो मुंशी

को पटा कर लोग हफ्तों घर हो आते थे, फिर भी हाज़िरी चलती रहती थी। हाज़िरी के पैसे में बँटवारा हो जाता था। बिना छुट्टी लिए काम पूरा हो जाता था। छोटी-छोटी जरूरतों के लिए छोटी-छोटी बेईमानियों को कोलफील्ड के लोग अपना हक मानने लगे थे। इन्हें नाजायज़ कहने वाले को लोग साधु कहते थे। इस औद्योगिक क्षेत्र में 'साधु' शब्द एक मायने में बेवकूफ या बुद्ध के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा था। 'नाजायज़' शब्द का प्रयोग प्रायः ऑफिसर लोग ऊपर-ऊपर से रौब जताने के लिए करते थे। मन से वे भी इसे 'नाजायज़' कबूल नहीं करते थे। वे खुद इन बेईमानियों में लिप्त थे।

“यह नाजायज़ है पकड़े गए तो दोनों जाओगे साले नौकरी से मुंशी भी और मज़दूर भी।” बस रौब झाड़ने के लिए कह देते थे वे।

ऑफिसर को भी हिस्सा मिलता था इसलिए वह भी केवल झबरे कुत्ते-सा गुर्राता था काटता नहीं था कभी। हाँ बड़ी रकम हासिल करने के लिए कभी-कभी दाँत मारता था पर उतना ही जिसका इलाज हो सके। लगभग सभी यूनियनों के नेता इन बातों को नज़रअन्दाज़ कर देते थे। एक रेणुकाजी यह सब सुन कर बिगड़ती थीं।

“यह तो बिल्कुल गलत हो रहा है। मज़दूर को काम-चोर बनाया जा रहा है।”

“माय है न! माय तो डाँटेगी ही गलत बात पर, दूध पियाई है न। झापड़ों (थप्पड़ भी) मारेगी तो सहना होगा।” कह कर मज़दूर सुन लेता था, सह लेता था पर उनकी बात पर अमल नहीं करता था।

मज़दूरों को यह सब छोटी-छोटी बेईमानियाँ उन बड़ी-बड़ी बेईमानियों के आगे, जिन्हें वह अपनी रोज़ आँखों के सामने घटते देखते थे बेमानी लगती थीं। कैसे मिट्टी-पत्थर पर कोयला 'झाँप' (ढक) कर नापी करवाई जाती है और कोयले की 'शार्टेज' (कमी) और चोरी 'मेकअप' (पूरी) की जाती है, कैसे ब्लास्टिंग के लिए 'माटी-टोपी' चोरी कर जगेश्वर की गैरकानूनी खदान में बेच दी जाती है जहाँ इन सब स्टाफ मैनेजर की भी ठेकेदारी चलती है या ठेकेदारी में पत्तीदारी है; इन सबसे कोलियरियों का मज़दूर बखूबी वाकिफ था।

चन्दा से अब उदय खुलेआम मिलता था। शायद यह सिलसिला दोनों में से किसी एक के रिटायर होने तक चलता रहता पर इसी बीच

गाँव वालों की नौकरी हेतु रेणुकाजी ने विस्थापितों का आन्दोलन छेड़ दिया और सुप्रीम कोर्ट में केस भी दायर कर दिया। दरअसल इस वी. आर. एस. (स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति) योजना के तहत लगभग सब औरतों और हरिजन-आदिवासियों की नौकरियाँ पैसे वाले या रंगदार लोग, लोभ या भय दिखाकर खरीदने लगे थे। गाँव वालों को प्रबन्धन 'रिक्त स्थान नहीं है' कहकर नौकरी नहीं दे रहा था। सुप्रीम कोर्ट में विवाद उठाया गया कि एक तरफ पुश्तैनी नौकरी के तहत मिली हुई नौकरियाँ भी बाहरी लोगों के हाथ बेची जा रही हैं, दूसरी तरफ प्रबन्धन द्वारा ग्रामीण विस्थापितों को 'रिक्त स्थान नहीं है', कह कर नौकरियाँ नहीं दी जा रही हैं। फलतः सुप्रीम कोर्ट ने वी.आर.एस. योजना पर ही रोक लगा दी। यूनियनों और प्रबन्धन दोनों ने मिल कर काफी प्रचार करवाया कि रेणुकाजी ने ही मज़दूरों की बदली नौकरी बन्द करवा दी पर फिर भी मज़दूरों ने रेणुकाजी पर कभी अविश्वास नहीं किया। सुप्रीम कोर्ट के स्थगनादेश को निष्प्रभावी करने के लिए प्रबन्धन और यूनियन वालों ने नियम 9-4-3 के तहत, 'बीमार होने पर बेटा और दामाद की नौकरी' का सिलसिला चालू किया। नौकरी की बिक्री तो इसमें भी होती थी पर कुछ कम। सुप्रीम कोर्ट के स्थगनादेश के कारण धड़ाधड़ बिक्री हो रही नौकरियों पर कुछ रोक लग गई। पहले प्रावधान के तहत महिला मज़दूर की नौकरी जिस किसी को भी दी जा सकती थी अब यह रुक गया था। महिला मज़दूरों के लिए यह रोक खासकर वरदान साबित हुई थी क्योंकि इस रोक से उन्हीं की नौकरी बिकने की सम्भावना खत्म हुई थी। इसी कानून के तहत उदय सिंह अपनी 'पहलकी' के बेटे को नौकरी दिलवाना चाह रहा था, जो अब जवान हो गया था। चन्दा का बेटा अभी छोटा था। चन्दा अपने भी जवान थी। खटती थी डट कर। फिर वह क्यों देगी अपनी नौकरी दूसरे के बेटे को? उसका अपना बेटा बड़ा होगा तो वह अपनी नौकरी उसे देगी। अभी तो वह खुद ही खटेगी।

एक रात उदय सिंह आया।

“मैंने तुम्हारा भेद इतने बरस छिपा कर रखा है चन्दा, तभी तुम्हारी नौकरी बची है। जमाना जानता है। अब तू मेरे साथ बँधी है। तेरा दुःख-सुख मेरा है। मेरा बड़ा बेटा जवान हो गया है। देख तू अपनी नौकरी मेरे बेटे के नाम लिखवा दे।” उदय बोला।

चन्दा हक्की-बक्की रह गई।

“सारी उमिर तू लूट लेले हमनी के, मोर मर्द भी छुड़ाय देल! ऊकर (उसकी) जिनगी भी वीरान कर देल हम तो बरबाद हो ही गेल। आखिर ई नौकरी बचावे खातिर ही तो हमनी दोनों जनी-मरद तोर काबू में रहे के गछले (मंजूर किए)। अब ई नौकरी फिन तू आपन बेटा खातर माँग रहल है, तो हमर बेटा, जब बड़ हो जैब तो केने (कहाँ) जैते? तू आपन नौकरी काहे नाय दे देत है आपन बेटा के? ना! ई नाय हो सकत।”

चन्दा ने उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया। दोनों में तनातनी चलने लगी। आखिर इसी नौकरी की खातिर तो उसने अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर ली, अपनी जवानी लुटा दी। चलो उसका जीवन बरबाद हो गया तो हो गया। कम से कम उसकी नौकरी तो बची थी, जिस पर उसका बेटा नौकरी पा सकता था। ‘वह तो सुख भोगेगा’ मन ही मन दोनों जनी-मरद यह सपना पाल रहे थे। क्या विचित्र प्रवृत्ति है मनुष्य की बच्चे के जन्म के साथ ही भविष्य की योजनाएँ और स्वप्न पालता है।

‘पर अब इस चोट्टे-साले की नज़र हमर नौकरी पर भी लगल है। अब ईकर नीयत हमर बेटा के बरबाद कर, आपन बेटा के बनाने के है। ई नाय होत। हमर बेटा के सुख कोऊओ के छीने न देब।’ चन्दा ने मन ही मन फैसला किया।

अपनी नौकरी उसने अपनी देह दे कर, जवानी लुटा कर, मरद की खुशियाँ, और प्यार छिनकर बचाई थी। अब बेटे की नौकरी क्या देकर बचायेगी? यह एक अहम् सवाल था उसके सामने।

मुंशी बाबू के प्रस्ताव पर माणिक भी सोच में पड़ गया। दूसरी डौकी देके भी बाबू की माँग पूरी नहीं हो सकती, वह यह समझ गया था। बाबू को अब अपनी ‘पहलकी’ औरत के बेटे के लिए नौकरी चाहिए। एक बेटा तो उसका भी जना था चन्दा ने पर उसे वह अपना नहीं मानता था। असल औलाद तो उसकी जात वाली औरत की जनी औलाद ही है न।

चन्दा माणिक के घर के एक कमरे में रहती थी। उदय रोज़ वहीं आता था।

कभी-कभी चन्दा भी उसके क्वार्टर में जो कॉलोनी में था, चली जाती थी। एक दिन उदय की नज़र चन्दा की सौत पर पड़ी थी, जो

तुरंत नहाकर पोखरी (खुली खदान) से लौटी थी।

“इसे भी पटा दे न मेरे लिए। तोरा कमाई डबल कर दूँगा।” उदय ने कहा था। “भोर से मन नींही (नहीं) भरत (भरता) हवै कि, हमर बहीनी (बहन) पर भी बुरी नज़र डाल रहस है (रहा है)? मोला (अपने) मर्द के हूँ (मैंने) दूसर डौकी (औरत) लाय के घर बसाय देल। तोरा घर बसाय खातर हम छोड़ देतस ऐसन सोने जैसन आपन मर्द के! अब वोकर (उसे) भी तू नास करे के चाहत अस (है)। ई नींही (नहीं) हवन (होने) दोवाँ (दूँगी)।” चन्दा बिफर गई।

“चल हट। आज से तैंहर (तुम) मोला घर नींही आबा! तैंहर बड़ लालची हवा। अब तोर एको बात हूँ (मैं) नींही मानब। मोला नौकरी खाय के चाहत अस, तो जा खाय लेब। जब मोला बेटा ही मोला (मेरी) नौकरी नहीं पाय सकत, तो ई नौकरी बचाय के का फ़ैदा, फिर अब तैंहर तो मोला (मेरी) बहिनी पर भी बुरी नज़र रख रहस है। मोला सामने मोला (मेरी) बहिनी के रक्खे चाहत है। त हूँ (मैं) कैसे जियब? जा तोहर (तेरी) बात नींही मानब (मानूँगी)।”

उस दिन उदय उसे धमकी देते हुए लौट गया।

सारी रात चन्दा सो नहीं सकी। क्या करे वह? नौकरी चली गई तो उसके बच्चों का क्या होगा? माणिक दूसरी डौकी ले आया है। उसका घर भी बस गया है। मुंशी के बेटा को नौकरी दे देगी तो क्या वह उसे पालेगा या वह अपनी ‘पहलकी’ को लाकर रख लेगा? कौन जाने? चन्दा रात भर इसी उधेड़बुन में पड़ी छटपटाती रही।

“जब तक मोला देह में दम-खम रहब, तब तक ऊ हमर के खटात रहत, जवानी रहल तक भोगत रहत! फिर हमर के छोड़ के ऊ अपन देस चल जात तो हूँ (मैं) काय करब? ना! अपन नौकरी नींही खाय के देब (नहीं लेने दूँगी) ई बार। वोकर (उसके) बेटा के अपन नौकरी नीहीं देब (नहीं दूँगी)। अपन सौतहर (सौतन) पर वोकर बुरी नज़र नीहीं पड़े देब।” उसने संकल्प लिया।

उसकी नज़र कमरे में घूम रही थी कि उसे सामने पड़ी टाँगी (कुल्हाड़ी) नज़र आ गई। टाँगी जिससे वह रोज़ जंगल से कोयला धराने (जलाने) के लिए लकड़ी काटकर लाती है। कभी-कभी माणिक के साथ मिल कर वह इसी टाँगी से घर के लिए मोटा गाछ भी काट लाती है। आज वह टाँगी उसे एकाएक बड़ी होती नज़र आई। टाँगी

उदय से भी बड़ी हो गई थी। टाँगी की धार गाछ की छाल से कभी काली या उसके दूध से सफेद हो जाती है, आज वह उसे लाल होती नज़र आ रही थी। यह टाँगी तो इतने बरसों से इसी घर में थी, आज तक क्यों नहीं कभी उसने इसे देखा? वह अपने को कोसने लगी। उसने लपक कर टाँगी उठाई। बड़े प्यार से उसकी धार पर हाथ फेरा और पत्थर पर रगड़ कर उसे तेज़ किया, चमकाया और संभाल कर ऐसे रखा जैसे कि एक टटके जन्मे बच्चे को माँ रखती है। टाँगी की धार पर उसकी जवानी के वर्ष एक-एक कर लशकारे मारने लगे। उसकी उम्र के पिछले पन्द्रह साल उसकी धार पर चिपक गए। गोया कि वह टाँगी नहीं खुद चन्दा थी, चन्दा!

अगले दिन भोरे-भोरे वह उदय मुंशी के घर गई।

“कल के हम का-न-का (क्या-न-क्या) बोल देलही तोला (तुझे)! गुस्सा थूक दे मुंशी जी। जो तैंहर (तुम) कहब ओ ही हूँ (मैं) करब।” उदय की बांछें खिल गईं। उसे भरोसा था कि वह आएगी, उसका फेंका तीर निशाने पर लगेगा, इसका उसे पूरा विश्वास था।

‘नौकरी नहीं गँवा सकते बिलासपुरिया साला इज्जत दे सकते हैं!’ वह मन ही मन सोचकर मुस्कराया। तीन-चार दिन खूब दारू-मुर्गा चला चन्दा के घर। उदय खरीद कर ले आता, चन्दा पकाती। घर भर खाता। भोर में उदय उठकर अपने क्वार्टर चला जाता। ऐसा प्यार शायद कभी भी नहीं दिया था उसे चन्दा ने।

“आज साँझ के तू आना हमर खदान पर। वहीं से हमनी दोनों सीधा चलेंगे तोर क्वार्टर में। होन्हे तनि देर गोठिया (बतिया) के रात के हमनी दोनों हमरे घर आ जैब। हमर यहाँ भीड़ बहुत हो जात है, खुल के तो का, कोई मन की बात करे के भी मुश्किल हो जात है। ढेर दिन हो गए अकेले में ठीक से मिल-बैठ के बतिया भी नाय पाय सकत है। दारू-चबेना, ठट्टा तो रोज चलत ही रहत है, पन कभी एक साथ बैठ के हमनी के राय करे के टैम भी चाही न। काल तोर बेटा नौकरी करब, ऊकर ब्याह होत ऊ बहू लायब, जे हम दोऊ जन के सेवा-टहल करत।”

चन्दा ने उदय की तरफ एक मोहक मुस्कान फेंकी। बहुत खुश था उदय उसके इस अन्दाज पर। कितना अपना मानती है उसे चन्दा।

ठीक साँझ को पाँच बजे उदय उसकी पोखरी पर पहुँच गया। सब

मलकट्टे जा रहे थे।

“दो झोड़ा भरे के बाकी है, भर के चलब।” चन्दा ने कहा।

“ठीक है मैं ऊपर टोंगरी (टीले) पर तेरा इन्तज़ार करूँगा।”

उदय ने बेफिक्री से कहा। जब सब मज़दूर चले गए तो चन्दा आई। पोखरी में हाथ-मुँह धोकर साफ-सुथरी हो गई थी वह। हाथ में झोड़ा था। टाँगी भी थी।

“रास्ते मा लकड़ी काट के ले जाब चूल्हा धरे के” सरसरी तौर पर चन्दा ने कहा।

“ठीक है” उदय ने कहा।

“तू आगू-आगू चल” चन्दा बोली।

चन्दा पीछे-पीछे थी। हाथ में टाँगी थी। उसने टोकरी पीठ पीछे बाँध ली थी। बीच में घना जंगल पड़ता था। झुटपुटा अँधेरा हो गया था।

“खट-खट”

“आह... हा... या... रे।”

एक आवाज़।

एक हाथ टाँगी के साथ फिर उठा। उदय के गरदन के पीछे गहरा घाव हो गया था। वह गिरा और फिर पलट कर सीधा हो गया

“अब मत मार जो तू कहेगी वही करूँगा। तेरी नौकरी नहीं चाहिए। मेरी जान बकस दे।”

“अब तोला ज़िन्दा छोड़ब तो तू हमर के मरा देब (मार देगा)। ले अब नौकरी अपन बेटा के, तोला मरे पर उकरा नौकरी तो मिल ही जाब ना।” एक बार फिर सीधी गरदन पर वार किया चन्दा ने। सर धड़ से अलग हो गया। तीन चार जगह चन्दा ने उसे काट दिया था। चन्दा ने फिर एक वार किया “ले तोला इनाम है ई। तू हमर के भोगत रहस हमर मर्द भी छुड़ाय देहस अब हूँ तोर मरद का गुमान ही काट देत हवै।”

उदय का शव क्षत-विक्षत जंगल में पड़ा था। लाश को वहीं जंगल में पत्तों में ढंक कर, टाँगी को साफ कर चन्दा घर लौट गई थी। देर रात गए उदय का भाई पूछने आया “का चन्दा, भैया आया है?”

“नहीं तो, ऊ आज नींही आयल (आया)।”

“वह साँझ में बोला था कि रात को देर से आएगा पर बारह बज

गए, अभी तक लौटा नहीं। सोचा तेरे घर पर होगा।”

“इहाँ नहीं आयल ” माणिक बोला!

उदय का भाई लौट गया।

अगले दिन कुत्ते के मुँह में उदय का सिर देख कर कॉलोनी वाले सकपकाए। पुलिस आई। खून के कतरे माणिक की झोपड़ी के कुछ दूर तक जाते मिले। माणिक के घर में एक तलवार भी मिली छत में टंगी।

पुलिस ने चन्दा और उसके पति को गिरफ्तार कर लिया।

“हाँ! हूँ मारल हूँ मोला मरद नहीं मारले। फाँसी देय देब मोर के। ऊ अपन बेटा के हमरी नौकरी देबे खोज रहल, नींही तो हमर नौकरी खाय के धमकी देत रहस। कितक (कितना) सह पारती? हम मार देले है उकरा! ऊ हमर बहिनी पर भी बुरी नज़र रखत रहा! हमरा के लूटा से लूटा, अब हम अपन बहिनी के भला कैसन सौंप सकत है उसको? सो हूँ मार देलके उकरा! अब हम वोकर बेटा तो आपन बाप के नौकरी पाय जाब न। हूँ फाँसी चढ़ जाब ते काय होत? मोर बेटा तो मोर नौकरी पाय जाब।”

चन्दा जोर से हँसी। लोगबाग डर गए। शायद वह पागल हो जाएगी। पुलिस उसके बयान को झूठ मान रही थी। उन्हें शक था कि माणिक ने किसी से मिल कर उदय को मरवाया है। पुलिस ने चन्दा को रात भर थाने में रखकर यातनाएं दी पर वह टस से मस नहीं हुई।

पुलिस ने उसे जेल भेज दिया। उसकी ओर से थाने में उसका यह बयान दर्ज किया गया कि चन्दा ने किसी एक पासवान को उदय को मारने के लिए भाड़े पर ठीक किया था। बयान पर चन्दा के अँगूठे की टीप जबरन ले ली गई थी। दरअसल पुलिस कुछ और लोगों के नाम लिखवा कर, उन्हें फँसा कर पैसा बनाना चाह रही थी। कुछ यूनियन वाले भी अपने-अपने विरोधियों को फँसाने की कोशिश में थे।

“पुलिस ने जबरन अँगूठा लगवा लियल रहा।” चन्दा ने कोर्ट में अपने बयान में कहा।

चन्दा केस लड़ रही थी। माणिक भी हर महीने उसके साथ हजारीबाग कोर्ट जाता था। खूब पैसा खर्च हो रहा था। पहले तो चन्दा

की जमानत कराने में ही काफी समय लगा। दूसरे लाल झण्डे के एक नेता बीगन ने तो माणिक से जमानत कराने के नाम पर बीस हजार रुपया भी ठग लिया था। जब रेणुकाजी बीच में पड़ीं तो जमानत हुई। चन्दा जब जमानत पर छूट कर वापिस कोलियरी गई तो यूनियन को उसकी ज्वाइनिंग के लिए भी कई महीने लड़ना पड़ा।

चन्दा हर रोज़ काम पर जाती रही, खूब डट कर खटती रही। वह निश्चिन्त थी, अब फाँसी चढ़ने का उसे न भय था और न गम। वह जानती थी कि उसकी नौकरी उसके बाद अब निश्चित ही उसके बेटे को मिलेगी। मर जाएगी तो क्या, मरकर भी ज़िन्दा रहेगी वह। ज़िन्दा रहने तक कोर्ट में लड़ेगी, वह हारेगी नहीं।

“हूँ नीही हारब (मैं हारूँगी नहीं) हूँ मरब (मैं मरूँगी), मोर बदल मोर बेटा खटब। मरे बाद भी वोकर (उसके) हाथ माँ हम ही दो झोड़ा बेशी (ज्यादा) कोयला ढोए के ताकत भर देब।” वह सोते-जागते बड़बड़ाती रहती।

चन्दा अब भय मुक्त थी। चन्दा मरने पर भी ज़िन्दा रहेगी ऐसा विश्वास माणिक को ही नहीं, सबको था! इतनी निडर! फिर कैसे मर सकती है चन्दा?

चन्दा के आँसुओं की धार ने उसके मुख पर लिख दिया था, ‘चन्दा मर नहीं सकती।’

चन्दा कटघरे में खड़ी है। आज उदय के मर्डर केस का फैसला होना है। माणिक चार बेटों और अपनी दूसरी डौकी के साथ कोर्ट में पीछे की बेंच पर बैठा है। आगे वकील बैठे हैं। जज साहब फैसला सुनाने के लिए कागज़ उलट-पलट रहे हैं। चन्दा का हाथ बराबर अपनी गरदन पर जा पहुँचता है, जैसे वह गले में कसती हुई रस्सी को हाथ से पकड़ कर, कसने से रोक रही हो।

“साक्ष्य के अभाव में चन्दा को उदय मर्डर मांडू केस नम्बर 10/92ए धारा 302 में बाइज्जत बरी किया जाता है।”

चन्दा ने सुना। क्या उसने फाँसी की रस्सी को तोड़ दिया? क्या यह सच है?

वह जड़वत् अपने से पूछ रही थी। कोर्ट का फैसला सब के मन को भाया था और सब के मन में एक खुशी की लहर दौड़ गई थी। माणिक पीछे से उठ कर आगे आ गया था। चन्दा अभी भी जड़वत्

कटघरे में खड़ी थी, मानो गले में कस रही फाँसी की रस्सी खोज रही हो, जिसे कुछ क्षण पहले उसके हाथों ने ताकत लगा कर तोड़ दिया है।

“तैं नीही मरब चन्दा तैं मर नीहीं सकत (तू नही मर सकती)। तोला कोई नीहीं मार सकत तैं मोर बचवन (बच्चों) की दाई (माँ) तैं मानकुँवर के बेटी तैं चन्दन के औलाद तैं माणिक के डौकी हव चन्दा। तैं ज़िन्दा रहब। चल बाहर आवा देख्वा बचवन कितना खुश हय।” माणिक कह रहा था।

चन्दा बार-बार अपने गले को टटोल रही थी कहीं फाँसी की रस्सी गरदन के पास तो नहीं लटक रही?

“तुम निर्दोष हो! चन्दा! जाओ तुम मुक्त हो!” जज साहब ने फिर दोहराया। कोर्ट का पिउन आकर चन्दा को नीचे ले जाने लगा। चन्दा रोए या हँसे वह तय नहीं कर पा रही थी।

चन्दा का बड़ा बेटा पास आकर बोला “चल दायी घर चल। सब कोलियरी वाला तोरा इन्तज़ार कर रहल हय।” बेटे की आवाज़ सुन कर चन्दा में हरकत हुई। उसकी आँखों से आँसू की धार बहने लगी। माणिक उसे बाँहों में थामे कोर्ट के बाहर लाया। वकील साहब बधाई दे रहे थे। बाहर कोलियरी के मज़दूरों ने चन्दा को घेर लिया। सब खुश थे। चन्दा की आँखों से आँसू की अविरल धारा बहने लगी मानो वह अपने इतने वर्षों के जीवन का सारा विषाद उदय के जुल्मों का सारा जहर, धो रही हो।

परबतिया

परबतिया जवान हो रही थी और उसकी माँ की चिन्ता बढ़ रही थी। बड़ी बहन बसमतिया को तो जवानी के ही दिनों में बाप जोहनदास ने अपने ज़िन्दा-जी ब्याह दिया था दोनों बहनों की उमर में बहुत अन्तर था। लगभग माँ-बेटी की उम्र का। दोनों के अन्तराल में कई बेटियाँ पैदा हुईं, एक बेटा भी हुआ पर कोई भी ज़िन्दगी का आठवाँ दिन पार नहीं कर सका। परबतिया लॉघ गई थी यह मृत्यु-रेखा।

बड़ी बहन बसमतिया का बेटा अपनी मौसी परबतिया से एक ही वर्ष छोटा था। माँ-बेटी एक ही साथ दूध पिलाती थीं अपने बच्चों को। माँ काम पर गई रहती तो बसमतिया ही परबतिया को अपना दूध पिला देती थी। उसके पति को लोग 'साधुजी' कहते थे। वह बचपन में ही सयानों-सी बातें करता था। 'नबाधा' (नौ दिन का बिना बाधा रामायण-पाठ) में खूब सुनता-सुनाता था रामायण। साधु प्रवृत्ति का था वह। बसमतिया भी उसे साधुजी कहती थी और सास सोनकुँवर भी। यहाँ तक कि साधुजी के माँ-बाप भी और अड़ोसी-पड़ोसी भी उसे 'साधुजी' ही कहने लगे थे। लगता था वह खुद अपना असली नाम भूल गया था।

परबतिया पाँव-पाँव चलने ही लगी थी कि जोहनदास बीमार पड़ गया। जोहनदास को कोई आठ दिन पहले ही से अहसास होने लगा था कि वह बचेगा नहीं। परबतिया की माँ सोनकुँवर को मरने के एक दिन पहले उसने कह दिया था।

“देखो मैं जाय रहल हूँ। परबतिया का ब्याह अच्छे घर में कर देव। मोर बेटा नई ए, घरजियाँ (घर-जमाई) रख लेब। परबतिया को मैं बेटा

मानत हूँ।” कहते-कहते उसके आँसू टपक पड़े थे।

परबतिया मौत को न समझती थी, फिर भी वह किसी सम्भावित खतरे से भयभीत हो गई थी। वह बाप और माँ की आँखों को देखकर सहम-सी गई थी। बाप ने बड़ी बहन को बुलवा भेजा था पर वह अभी पहुँची नहीं थी। लगता था कुछ जरूरी था जो जोहनदास बेटी-दामाद से कहना चाहता था और अब उसी इन्तज़ार में उसकी ज़िन्दगी अटकी थी।

सर्दी का महीना था। खाट के नीचे बोरसी रखी थी। दिन में ही जोहनदास ने सोनकुँवर से शिकार (मांस) बनाने को कहा था। सोनकुँवर सामने ही खस्सी (बकरे का मांस) कटाकर लाई थी। वह अपने ‘डौका’ (पति) के अन्तिम क्षणों में उसकी किसी बात को उठाना नहीं चाहती थी। रात चढ़ आई थी। जोहनदास ने दारू लाने के लिए कहा। वह जानती थी कि डॉक्टर ने दारू के लिए मना किया है और दारू उसके लिए जहर है। पर अन्त बेला अपने ‘डौका’ को प्यासा कैसे जाने देती वह! ज़िन्दगी भर साथ खाया, साथ पिया, अब मरने वक्त वह कैसे अकेला छोड़ दे उसे? कैसे न खाए, कैसे न पिए उसके साथ?

“अब मोर ज़िन्दगानी खतम होवत है, सो आज तो तू मोर दारू पिया दे” बड़े दुःखी मन से जोहनदास बोला था।

“दारू पी के, मांस खा के मुझे मरन दे, सोन! तब मोर आत्मा भटकती नीही (नहीं)! फिन दूसर जनम में तोर संग संसार बसाय के या खाय-पीवे लिखले होही, तो ऊ बार हूँ (मैं) ही तोहर नारी बनवे सोन!” सोनकुँवर ने रोते-रोते दारू की बोतल खोलकर गिलास भर दिया। दोनों पीते रहे। दोनों रोते रहे। फिर दोनों एकदम चुप हो गए। परबतिया ऊँघने लगी थी। जोहनदास ने उसे रजाई में घुसाकर सुला लिया था। सोनकुँवर नीचे ज़मीन पर ‘सूत’ (सो) रही।

‘भोरे-भोरे’ (सवेरे-सवेरे) परबतिया कह रही थी,

“छोड़ बाबा छोड़, मोला उठन दे, मै खेले जावाहां(जाऊँगी)। उठ बाबा उठ, तू गोठियात (बोलता) काबर (क्यों) नीअस (नहीं)?” सोनकुँवर हड़बड़ा कर उठी। जोहनदास के मुख पर एक ठंडी तृप्त संतोष की मुस्कान झलक रही थी। वह ठंडा हो चुका था। उसका एक हाथ परबतिया के गिर्द लिपटा था, जिसे वह छुड़ा न पा रही थी। हाथ चूँकि अकड़ गया था, इसलिए जकड़ कस गई थी। सोनकुँवर छाती पीटकर

चिल्ला उठी। मुहल्ला जमा हो गया। मौत की ठंडी जकड़ से पड़ोसिन परबतिया को निकाल कर ले गई थी पर परबतिया उस जकड़े हाथ को भूल नहीं पा रही थी। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी थी।

सोनकुँवर और उसके मुहल्ले वालों को इस बात का संतोष था कि वह खा-पीकर मरा है। वह मुहल्ला मध्यवर्गीय संस्कृति का शिकार न था, इसलिए किसी ने भी यह न कहा “न पीता, न मरता... साला मरे के वक्त भी दारू ही माँगा।” खटकर खाने वाले भूख की चिन्ता में मगन लोगों की अलग ही मानसिकता होती है। अभाव के इस परिवेश में ‘खाते-पीते मरना’ एक उपलब्धि थी। पूरे मुहल्ले को विश्वास था कि जल्द ही जोहनदास दूसरा जन्म लेगा वह भूत बनकर भटकेगा नहीं। सोनकुँवर के लिए भला इससे बढ़कर संतोष की बात और क्या हो सकती थी। केवल परबतिया वह जकड़ा हाथ भूल नहीं पा रही थी। उसे लगता था, कोई सहारा खत्म हो गया! वह गोदी से गिर गई... और अब वह बिना बाँहों के सहारे के झोंपड़े की छत और खटिया के शून्य के बीच लटक रही है और फिर एक जकड़ा-अकड़ा मरा-मरा हाथ, जिसकी पकड़ खत्म हो रही थी बार-बार उसके गिर्द घूम जाता।

सोनकुँवर के पास जोहनदास की ज़मीन थी, जो गुजर करने के लिए काफी थी। उस ज़मीन का भागीदार कोई गोतिया भी न था। उसके मरने के बाद बस दोनों बेटियाँ ही मालिक थीं। सब ज़मीन जोहनदास ने अपनी कमाई से ‘अरजी’ थी। बाप-दादा के खेत तो कब के बिक चुके थे।

बड़ी बेटे का मरद घरजियाँ (घरजमाई) बनने को तैयार न था पर खेती के समय वह आकर सास की मदद जरूर कर देता था।

परबतिया के लिए लड़के की खोज शुरू हुई चूँकि परबतिया अब ग्यारह बरस की हो गई थी। तेरह बरस की उमर होते-होते परबतिया ‘अलग बैठने वाली’ हो गई। लड़का मिला बीस बरस का। शादी हुई। माँ ने साथ ही गौने की तैयारी शुरू कर दी। बड़ी धूमधाम से गौना हुआ। परबतिया के सास-ससुर ने उसे माँ-बाप-सा प्यार दिया।

तेरह बरस की कच्ची उम्र थी परबतिया की। दिनभर घर-बाड़ी, खेत-खलिहान के काम में गुजर जाता था। रात नज़दीक आते ही एक भय सालने लगता था परबतिया के मन में। वह ‘डौका’ के पास सोने से डरती थी, इसलिए सास के पास जाकर सो रहती थी। रात को सोते

में भी उसकी हरी-हरी अँकुराई मूँग-सी अधखुली आँखें सपने देखती-सी लगती थीं।

उसकी देह सरसों की गंदल-सी धीरे-धीरे बढ़ती गई। खूब रसभरी होती जा रही थी परबतिया। उसकी आँखें सबेरे-सबेरे झरोखे से झाँकती धूप-सी, चमकती हुई पूरे घर में फैल जातीं। होंठों पर बरबस हँसी फैल जाती। चेहरा 'लशक' जाता; जैसे आईना धूप की किरणों से लशकारे देने लगता है। परबतिया के रूप की चर्चा गाँव के घर-घर में होने लगी थी।

घर में परबतिया के अलावे उसकी जेठानी मानमती थी। मानमती का मर्द दो बरस पहले ही मर चुका था। मानमती अपने देवर को बहुत मानती थी और देवर भी भाभी का परवाना था। उनका यह 'मानना' यूँ ही नहीं था। यह 'मानना' पहले आसक्ति में, फिर प्रणय में बदल गया था। भाभी से लगाव के कारण परबतिया का मर्द उससे दूर-दूर रहता था। परबतिया को इसका थोड़ा-थोड़ा आभास मिल गया था।

जब बेटे ने परबतिया को बुलाने की कोई चेष्टा नहीं की, न ही उसकी खोज-खबर ली, तो एक दिन परबतिया की सास ने ही उसे बेटे के कमरे में भेजा। थोड़ी देर बाद परबतिया की चीखें सुनाई दीं। सास-ससुर बहू की नादानी पर पहले मुस्काए, फिर गुस्साए। लेकिन धड़ाक से कुछ गिरने और धड़ाम से दरवाजा बन्द करने की आवाज़ से वे घबराए। सास बेटे के कमरे की तरफ भागी-भागी गई। कमरा खुला था। बेटा गायब था। परबतिया के दोनों पाँव बँधे थे और दोनों हथेलियों पर खटिया के पाये टिके थे। परबतिया चिल्ला रही थी।

अगले दिन गाँव की पंचायत हुई। परबतिया के सास-ससुर ने ही अपने बेटे के खिलाफ पंचायत बुलाई थी। पूरा गाँव परबतिया के मर्द को कोस रहा था और परबतिया को ठीक से रखने का दबाव डाल रहा था पर उसका मर्द तैयार ही न था। भरी पंचायत ने उसे बार-बार समझाया-बुझाया और परबतिया को अपने साथ रखने को मजबूर किया। परबतिया का आहत यौवन विद्रोह करने को तैयार होता पर सास-ससुर का व्यवहार उसे ठंडा कर देता।

मानमती मुस्काती! उसके होंठों की मुस्कान अधिक मोहक और मादक हो रही थी उसकी देह दिन पर दिन गदराई जा रही थी।

परबतिया कसमसाती! उसके होंठ मुस्काना भूल गए थे, वे फीके

पड़ते जा रहे थे उसकी देह दिन पर दिन दुबराई जा रही थी। सरसों की गंदल पक कर तैयार थी पर वह अब अपनी जड़ों से जुड़े-जुड़े ही सुखती जा रही थी। उसकी फसल का, उसके रस का कोई लेवनहार (लेने वाला) न था। परबतिया ने एक दिन हिम्मत कर अपने मरद से कहा

“तू उसके संग रहे चाहे तो रह लेकिन मोर संग भी रह।”

एक लात मारकर उसे गिराते हुए वह बोला “तू उकरा (उसका) मुकाबला करबै? जा तैंहर दाई (माँ) ठिन (पास)। जा आने डोका (दूसरा मरद) बना लेव, मैं तोरा नैई (नहीं) राखब (रखूँगा)।”

कभी-कभार उसका पति उसे अपनी हवस का शिकार बनाता पर जैसे उससे कोई अपराध हो गया हो और फिर उस अपराध-बोध से मुक्ति पाने के लिए वह उसे खूब पीटता। खटिया के पाये के नीचे उसकी हथेलियाँ रखकर खुद खटिया पर बैठ जाता और उस पर कूदता। परबतिया पीड़ा से चिल्लाती। माँ-बाप के आने से पहले वह भाग जाता।

आखिर परबतिया माँ के पास लौटा दी गई। सास ने उसका सारा सामान वापिस ‘फेर’ दिया। उसे गम था कि ‘देवी असन बहू को’ बेटे ने नहीं रखा।

“अभी मोर परबतिया के कच्ची उमर हवै। परबत असन (जैसी) ज़िन्दगी ला (को) कैसे काटही (काटेगी)।” परबतिया की माँ को यह गम सता रहा था।

बार-बार वह साधुजी से कहती “लड़का खोज के आने (दूसरा) बिहा कर देवे मोर बेटी के, साधुजी।”

परबतिया गालों में गड़ढ़े, होंठों में नीले दाग लिए ससुराल से लौटी थी। आँखों में रोशनी की जगह अँधेरे घर कर गए थे पर माँ और बहन का प्यार पाकर वह दुःख भूलने लगी थी। माँ के साथ दिन-रात रहकर अब परबतिया सहज हो गई थी।

“काबर (क्यों) वर खोजे ला बाहर जाही? परबतिया का बिहा (ब्याह) मोला (मेरे) साधुजी संग काबर (क्यों) नी (नहीं) कर देतस? हमनी दूनों बहिनी एक संग रहब।” एक दिन बड़ी बहन बसमतिया ने माँ के समक्ष प्रस्ताव रखा।

बसमतिया का प्रस्ताव सुनकर सोनकुँवर सकते में आ गई। गुस्से से रोती हुई बोली “का जानी परबतिया के कर्म मा सौतहर (सौत) ही

लिखल है! अब तू बहिनी होके सौत बने चाहत है। ओकर बाप के उमर के ये तोर डोका (पति)...? ऐसन जुलम में अपन जीते जी नैई हवन (होने) दोवां (दूँगी)।”

परबतिया उन्नीस वर्ष की हो गई थी। एक दिन खेत से वापिस आते हुए सोनकुँवर का पाँव फिसल गया। वह पहाड़ी से नीचे खाई में लुढ़क गई। कुछ जान बाकी थी। उसे घर लाया गया। कुहराम मच गया। परबतिया माँ को पकड़-पकड़ कर रो रही थी।

“मत जा दई (माँ), महुला (मुझे) संग लेते चल। मैं एकच (अकेली) का करीहूँ (करूँगी)?”

परबतिया को विश्वास हो गया था कि माँ नहीं बचेगी। सोनकुँवर के दोनों हाथ टूट गए थे। परबतिया ने उन्हें छुआ। हाथ ठंडे नहीं थे, लुंज हो गए थे। उसे अपने बाप का मरा हुआ हाथ नज़र आने लगा, जो मौत में भी उसके गिर्द कस गया था। माँ के हाथ अपनी सारी क्षमता खो चुके थे। उसे बाप का हाथ माँ के हाथों की तरफ बढ़ता नज़र आ रहा था।

“ना बाबा-ना, झिन (मत) छू दई (माँ) के।” वह चिल्ला उठी सोनकुँवर ने आँखें खोलीं, शायद पहली और अंतिम बार। डॉक्टरों ने हाथ काटने की सलाह दी थी पर हाथ कटने से पहले ही सोनकुँवर चल दी अपने अशक्त हाथों के साथ। परबतिया ने पानी पिलाने के लिए गिलास उठाया ही था कि सोनकुँवर की आँखें खुली की खुली रह गईं। परबतिया पानी भी न पिला पायी अपनी माँ को! उस माँ को जिसने चार बरस तक उसे दूध पिलाया था। उस माँ को जिसने उसके बाप को खिला-पिलाकर ही मरने दिया था। परबतिया के आँसू माँ के मरे होठों पर जा गिरे और मरी माँ के होठों के कोरों में ढुलक गए। सोनकुँवर के होंठ भिंच गए थे। परबतिया करे तो क्या करे! उसे लग रहा था वह ‘सरग’ से गिर रही है, कोई उसे लोकने वाला नहीं है। वह चीख उठी “मोर (मुझे) भी तैहर (तूँ) अपन संग ले जा मोर दई, मैहर (मैं) जीए के का करतस (करूँगी)।”

घर में अब हमेशा के लिए बसमतिया और ‘साधुजी’ रहने के लिए आ गए थे। परबतिया को बहन की मंशा मालूम हो चुकी थी। इसलिए वह अपने ही घर में भयभीत-सी रहने लगी थी। बिल्ली-सी दुबकी वह अपने को अपनी बहन की नज़रों से बचाने लगी। ‘साधुजी’ उसकी

तरफ नज़र उठाकर भी न देखता था पर परबतिया किसी शंका से भयभीत उससे छिपती रहती। 'साधुजी' अपनी पत्नी की व्यवस्था सुन चुका था। वह अपराध-बोध से शरमाया, परबतिया के आगे पड़ने से कतराता था।

माँ के मरने के बाद बसमतिया ने वही प्रस्ताव 'साधुजी' के आगे दोहराया था।

“काबर (क्यों) परबतिया ला, तोर संग नीं रख लेत, हमनी दुनो बहिनी एक संग रहब?”

“परबतिया मोर बेटी की उमर के हवै (है)। ऐसे कैसे होही? कहुँ अच्छा बर खोज के ब्याह कर दे बहिनी के, नहीं तो दुनिया हमन के देख के हासी (हँसेगी)।” डाँट पिलाते हुये 'साधुजी' बोले।

“तब ई सब जैदाद दूसर के हो जाहती। ऐसे में तो एके ही घर मा रह जाही दूनो। तोर तो बुद्धी मार खा गई। डौका (मरद) के कोई उमर देखे जात है...? आने (दूसरे) डौकामन (मरद) तो दस डौकी (औरत) रख सकत हैं... तैहर दू ठ डौकी नी रख सकत? कैसन डौका है तैहर? बहिनी तो मोर ए न। कोई नी हाँसें। झूठ बहाना झिन (मत) बना।” बसमतिया कड़क के बोली। एक दिन बसमतिया ने बहाना बनाकर 'साधुजी' को परबतिया के कमरे में कुछ लाने भेजा और बाहर से कुंडी चढ़ा दी।

‘फइका (दरवाज़ा) खोल दे बसमतिया। ए करम मोर से नी होही (होगा)।’ साधुजी चिल्लाये।

परबतिया सोई थी, आवाज़ सुनकर जग गई। सहमकर एक तरफ दुबक गई। साधुजी खड़े रहे। वह किसी अनहोनी की आशंका से काँपती रही। 'साधुजी' पहले तो खड़ा रहा पर जब उसकी गुहार बसमतिया ने नहीं सुनी तो आकर परबतिया की खटिया पर बैठ गया। परबतिया झट से खड़ी हो गई। उसने साँस लेना भी बन्द कर दिया। वह बिलाई की तरह साँस खींचकर वार करने को तैयार हो गई। फिर अचानक, ज़मीन पर बैठकर सिर घुटनों में 'ढुकाकर' रोने लगी।

'साधुजी', जो उसकी गदराई देह को देखकर पिघल रहा था, उसका रोना सुनकर जम गया। उसका 'वहशी' डर गया 'साधु' जग गया। उसे लगा जैसे वह एक बिलाव है, जो एक नन्ही-सी कबूतरी को दबोचने के लिए पंजा बढ़ा रहा है। वह तुरंत अपने एक हाथ को दूसरे हाथ में लेकर कुछ ऐसे मलने लगा जैसे वह बिलाव के पंजे को अपने हाथ से

झाड़ देना चाहता हो, जो उसपर चिपक-सा गया था।

उसने उठकर दरवाजे पर एक लात जमाई और शायद ज़िन्दगी में पहली बार एक भद्दी-सी गाली बसमतिया को देते हुए दरवाज़ा तोड़ देने की धमकी दी। बाहर से बसमतिया चिल्लाई “जवान लड़कीहर तोला (तुझे) जगाए (उत्तेजित) नी (नहीं) सकत त तू मोर संग कैसे रहब! नामर्द है तू जो अतके (इतना) मौका देबे पर भी डौकी (औरत) को बस में करे के लूर (ढंग) नी (नहीं) है। जा डूब मर।”

फटकार सुनकर ‘साधुजी’ जी कड़ा कर फिर लौटा। इस बार उसने परबतिया को बिना देखे अपनी बाँहों में लेने का निश्चय किया था चूँकि परबतिया को देखकर उसका वहशी नहीं, उसका स्नेह जग जाता था विवेक जग जाता था बाप जग जाता था। इसलिए वह उसका चेहरा बिना देखे हुए ही, उसकी देह भोग लेने की सोच रहा था ताकि अपनी ‘डौकी’ की फटकार से बच सके।

परबतिया भाँप गई थी, इस बार वह नहीं बच पाएगी। उसने अन्तिम प्रयास किया।

वह बोली ‘साधुजी’ मै तूँहला (तुझे) बाप मानत रहै, मैं दीदी के दूध भी पीय हुवा। हूँ तोर बेटी हव। तू संभाले नी सकत, त मोला मोर दादा के पास भेज दे। पर मोरा संग ऐसन कुकर्म झिन (मत) कर। मोला (मुझे) डौका के जरूरत नैई है। मोर करम में डौका (मरद) नी (नहीं) है और न ही सुख लिखे हवे। छीः! झिन छू मोला (मुझे)।”

साधुजी का वहशी पुनः साधु बनकर लौट पड़ा था। उसे काटो तो खून नहीं। वह फिर लौट आया दरवाजे के पास।

“बसमतिया जादा जिद झिन कर। खोल दे दरवाजा! मोला बाहर आने दे! मरही (मरी हुई) गाय संग सूतै (सोये) खातिर जोर झिन कर।” इस बार वह गिड़गिड़ा कर बोला।

बसमतिया को अब परबतिया पर गुस्सा आ गया। वह दरवाजा खोलकर अन्दर आई और दरवाजे से पीठ टेककर खड़ी होती हुई परबतिया पर गरजी।

“काबर (क्यों) नखरा करत ह! आखिर तो कोई डौका (मरद) राख ही? का खराबी है ऐ डौका मा? हरामजादी मेरा सुख देखे नी सकत। तूँ ही एकर (इसके) संग जादा रहब। जब तोर जी भर जाही त साधुजी मोर संग सूतते। पर तैहर घर के बाहर झिन जाव।”

परबतिया कुछ बोलती इसके पहले ही बसमतिया ने साधुजी को ठेलकर नीचे बैठी परबतिया पर गिरा दिया और लालटेन लेते हुए बाहर निकल गई। उसने जाते-जाते दरवाज़े पर बाहर से कुंडी चढ़ा दी थी।

अभी परबतिया संभल ही रही थी कि 'साधुजी' उस पर मुँह के बल गिर पड़े। वह अब 'साधुजी' की बाँहों में थी। परबतिया के गदराये देह-परस से साधुजी का वहशी फिर जाग उठा। उसने परबतिया के आँचल से ही उसका मुँह ढँक दिया। उम्र के भेद खत्म हो गए। स्नेह के रिश्ते चकनाचूर होकर बिखर गए। शर्म डूब गई।

सरसों की गन्दल कोल्हू में पिस रही थी। परबतिया समझ रही थी कि चिल्लाना छटपटाना बेकार है। मरद के मजबूत बंधन से छुटकारा असम्भव है। और फिर कौन सुनेगा उसकी आवाज़? कौन आएगा उसे छुड़ाने? बाहर तो वही बसमतिया ही है न!

'साधुजी' की पकड़ मजबूत होती गई। प्यार का आवेग बढ़ता गया। बाप के स्नेह का स्वरूप अब पुरुष के प्रणय में बदलकर अधिक आक्रामक रूप में सामने था।

परबतिया को अपने मरद की याद आई, हवस मिटाते हुए भी वह उसे मारता था और हवस मिटाने के बाद भी। वह उसे प्यार नहीं बल्कि प्रताड़ित करता था। उसे मानमती की तुलना में हेय मानता था, दुत्कारता था। उसे याद आई अपने बाप के अकड़े-जकड़े मौत के ठंडे हाथ की। बचपन से लेकर आज तक वह सिहर जाती रही हैं, उस ठंडी जकड़ की पकड़ को याद करके।

'साधुजी' ने भी उसे एक हाथ से जकड़े रखा था। दूसरे से वह उसे सहला रहा था। परबतिया को लगा जैसे उसके बाप की वह ठंडी जकड़ गरम हो गई हो, वह अकड़ा हाथ हिलने लगा हो और उसकी पूरी देह पर सरसरा रहा हो, जैस देह पर साँप रेंग रहा हो। उसे झुरझुरी-सी आने लगी थी। वह झुरझुरी डर की थी, आनन्द की या दोनों की मिश्रित; वह यह न समझ पा रही थी।

उसकी बन्द अकड़ी टाँगें ढीली पड़ने लगीं और खुल गईं। उसने 'साधुजी' के कुर्ते को इतनी जोर से पकड़ रखा था कि वह फट गया। परबतिया का ब्लाउज तार-तार हो गया था। परबतिया ने अपने बचाव के लिए अपनी बाँहों से अपना वक्ष कस रखा था। धीरे-धीरे कसाव ढीला पड़ गया। उसकी ढीली पड़ी बाँह को 'साधुजी' ने अपनी गर्दन के गिर्द

लपेटते हुए परबतिया की आँखों में पहली बार देखा और उन्हें परबतिया की आँखों में दुधमुँही अबोध बच्ची के बदले एक जवान औरत बनती नज़र आई।

परबतिया वश में आ गई। जो होना था वह हो गया, अब रोना कैसा! परबतिया ने भाग्य में बदा मानकर नियति को स्वीकार कर लिया।

परबतिया को गर्भ रह गया। बसमतिया ने गाँव की पंचायत बुलाकर 'साधुजी' के साथ उसका 'नेग' (शगुन) पक्का कर दिया और ब्याह की तिथि निश्चित कर दी। बड़े-बूढ़ों ने बसमतिया को खूब सराहा। ब्याह हो गया।

परबतिया को बेटा पैदा हुआ। बसमतिया ने नाम रखा 'मेहत्तर'। बसमतिया मेहत्तर को पालती। 'साधुजी' परबतिया को बहलाते। लम्बा अर्सा गुजर गया।

समय ठीक ही गुजर रहा था कि अचानक उस बरस बिलासपुर में बड़ा अकाल पड़ा। पूरी-की-पूरी ज़मीन बिक गई। वह ज़मीन भी बिक गई जिसके लिए 'साधुजी' परबतिया का बाप की बजाय मरद बन गया था और बसमतिया बहन से सौत। पूरा परिवार बिहार की कोयला खदानों में खटने चला आया। हजारीबाग जिला की 'राजा खदानों' का नाम उन्होंने पहले ही सुन रखा था। पहले सब 'धूरी' कोलियरी पहुँचे, जहाँ अपने बड़े बेटे धनसाय के साथ बसमतिया को काम मिल गया। 'साधुजी' परबतिया और मेहत्तर को साथ लेकर राजा साहब की केदला कोलियरी चला आया। मामा बाबू ठेकेदार की खदान में दोनों को काम मिल गया। मेहत्तर भी कभी-कभी काम पर जाने लगा।

बसमतिया नियमित रूप से एक महीने बाद 'साधुजी' के पास रहने आ जाती थी। कभी-कभी ये दोनों ही बसमतिया के पास चले जाते, तो कभी अकेले 'साधुजी' ही 'बारी-बाँहटा' पुराने हेतु अकेले ही एक महीना बसमतिया के पास रह आते। जब बसमतिया आ जाती तो परबतिया झोपड़ी के बाहर चबूतरे पर सो रहती। वह दोनों को तेल मालिश करती। खाना बनाती। शिकार (बकरे का मांस) पकाती, फिर तीनों मिलकर खाते और पीते। कोलियरी में आने के बाद 'साधुजी' दारू पीने तो लगे थे पर वे पियक्कड़ न थे। बेटा भी दारू पीने में शामिल हो जाता।

एक महीने बाद बसमतिया कहती "ले सम्हार ले परबतिया अपन डौका!"

“ई तोर डौका न है का जीजी?” परबतिया हँसते हुए कहती।

झोपड़ी बहुत छोटी थी। पत्ते की थी। खटिया पर सीधे बैठना नहीं हो सकता था। खटिया एक ही थी। बाहर चबूतरा बना था जहाँ चूल्हा हमेशा जलता ही रहता था। कोयले की खदान में कोयले की कमी न थी। बेटा मेहत्तर हमेशा बाहर ही सोता था। सर्दी में चूल्हे पर आग तापकर और गर्मी में चबूतरे पर गुजर करता था, जिसे परबतिया रोज छाई और गोबर से लीपकर ठंडा रखती थी। परबतिया की बारी आती तो बसमतिया बाहर चबूतरे पर सो जाती और परबतिया अन्दर। दोनों ने अपने मरद को बराबर हिस्सों में बाँट लिया था। कोई एक-दूसरे के साथ बेईमानी नहीं करती थी। ‘साधुजी’ की उमर अब काफी हो गई थी। अब वे केदला में भीख माँगने लगे थे। परबतिया अब जवान-प्रौढ़ा बन कर और भी निखर आई थी। बसमतिया अपने बेटा-बहू में मगन थी। पोता-पोती को खिलाती रहती थी। परबतिया साधुजी को अब अपने बेटा समान पोसने लगी थी। बेटा जवान हो गया था और खटकर माँ-बाप को भी देने लगा था। परबतिया ने उसके लिए डौकी खोज ली थी।

“मैंहर (मैं) तो मोर (अपनी) डौकी ल (को) लेकर अलगे घर बसाहाँ (बसाऊँगा), तैंहर अपन साधुजी संग रहेस।” बेटे ने माँ से कह दिया।

बेटा भी बाप को ‘साधुजी’ ही कहता था।

कभी-कभी परबतिया को बड़ा डर लगने लगता कि उसके बाप की तरह ‘साधुजी’ भी उसे ‘जकड़ल-जकड़ल’ न मर जायें। इसलिए उसने अब रात को उसके साथ सोना बन्द कर दिया था। साधु जी के सोने के बाद वह खटिया के बगल में ज़मीन पर साड़ी बिछाकर ‘सूत’ रहती थी। खटिया के पायों के पास भी वह कभी अपने हाथ न ले जाती थी। उसे डर लगता था कि कहीं सोये में उसकी हथेलियों पर पाये न चढ़ बैठें। अभी भी खटिया के पाये उसकी हथेलियों पर बोझ बनकर खड़े रहते थे। लगता था खटिया के पाये उसे बाँधे रहते हैं, कहीं वह भाग न जाये पर वह भाग कर जाएगी कहाँ? वह ज़िन्दगी से कैसे भागेगी? ‘साधुजी’ के मरने के बाद भी संभवतः उसे यह डर सताता रहेगा। डर जो एक मौत ने दिया... दूसरी मौत तक बरकरार रहेगा! डर जो एक रिश्ते ने दिया, दूसरे रिश्ते तक बदस्तूर बरकरार रहेगा। वह बेटी थी या माँ, पत्नी थी या सौत ‘बहिनी’ (बहन) थी या ‘रखनी’

(रखैल), वह समझ न पा रही थी। उसके जीवन में सारे रिश्ते गड्ढमड्ढ हो गए थे। बस एक माँ को उसने पहचाना था और जाना था एक अदद औरत को। एक औरत जिसके लिए एक अदद मरद का होना जरूरी है। मरद जिसकी वह डौकी थी। मरद जिसकी वह बेटी थी, माँ थी, बहन थी, जो खुद से जीना नहीं जानती थी, जानती थी केवल मरद के लिए जीना।

परबतिया सुन्दर थी। जवान थी। उस पर सबकी नज़र पड़ती थी ठीकेदार की भी, मुंशी की भी पर परबतिया अपने 'साधुजी' की छाया बनी रहती थी। उसे मरदों से डर लगता था। भीतर-ही-भीतर उसे मरदों से कुछ घृणा भी थी। उस घृणा ने उसे मरदों के प्रति कठोर बना दिया था। उसके इस रुख के कारण उसकी झड़प मुंशी बाबू से अक्सर हो जाया करती थी। इन झगड़ों के कारण वह मज़दूरों की श्रद्धा का पात्र बन गई थी। मज़दूर उसकी बहादुरी का लोहा मानने लगे थे। अब वह मज़दूरों के मामले लेकर प्रायः हर रोज़ ठीकेदार बाबू से भी झगड़ने लगी थी। मज़दूरों ने परबतिया को अपना लीडर चुन लिया। उन दिनों ठीकेदारों के खिलाफ केदला में हड़तालों का जोर था। यूनियन के साझा नेतृत्व में मज़दूर, लठैतों-पहलवानों का मुकाबला करते हुए कुछ कर गुजरने पर उतारू थे। वे ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए तैयार थे। परबतिया इन सब में सबसे आगे रहती थी। वह मरदों के दंगल की सरदारिन बन गई और यूनियन में अपनी पोखरी की प्रतिनिधि।

'साधुजी' यूनियनबाजी से कतराता था पर परबतिया अब एक समझदार माँ की तरह उन्हें झिड़ककर ऐसी बातें करने से मना कर देती थी। परबतिया को यूनियन के माध्यम से मरदों का नेतृत्व करने में भीतर-ही-भीतर बड़ा अच्छा लगता था। जब मज़दूर उसके पास अपनी समस्याएं लेकर आते और वह उनके सवालों को लेकर ठीकेदारों को गरियाती जब पुलिस लाठी ठोंकती उनके धौड़ों की तलाशियाँ लेने आती, तो वह काछा बाँधकर, सीना तानकर अपने 'साधुजी' को झोपड़ी में बन्द कर, सभी मरदों की तरफ से पुलिस का मुकाबला करती, उनके सवालों के जवाब देती। वह एक हाँक लगाकर सबको जमा करती और मुट्टी बाँधकर नारे लगाती और लगवाती। उस वक्त उसे लगता कि खटिया के 'पाये' जो उसकी हथेलियों पर बराबर खड़े रहते थे, उन

साझा मुट्ठियों के वार से टूट गए हैं। उसे लगता था, 'जकड़ल-अकड़ल' उसके बाप का वह हाथ जो उसके शरीर पर साँप जैसा सरसरा गया था, अब मुट्ठी बाँधकर उसका समर्थन कर रहा है। उसे मरा, अकड़ा, जकड़ा, ठंडा हाथ या तो गरम तपती मशाल पकड़े नज़र आता या फिर ज़िन्दा होकर उसे दुलारता। सब रिश्ते एक साथ, एक जमात बने नज़र आते और उसे लगता कि उसने एक नई औरत को देख लिया है। औरत, जो खुद से जीना जानती है, औरत जो दूसरों को ज़िन्दा रखने की औकात रखती है। औरत जो सबको जानती है, पालती है और उन्हें दिशा देती है।

...और अब परबतिया ने जीवन जीना शुरू कर दिया था।

जिरवा और जिरवा-माय

“ममी अब पहलका के ही खोजवा दे, चिट्ठी भेजले है, पता भी देयल है। हम अब ओहे के साथ रहब। ढेर मरदवन के देख लेले। जिकरा संग बिआह होले, अब वहिये (वही) पुराइते (पूरा करेगा)।”

मुझे हँसी भी आई और एक टीस भी मन में उठी। यह वही जिरवा है, जिसने कई मर्दों को कोर्ट में ‘चढ़वा’ दिया था, पंचायत में माफी मँगवाई थी और आज यही जिरवा इतना आगे बढ़ने के बाद वापस लौट रही है, उसी रूढ़िगत धारणा की गुलाम बनकर, जिसने उसे और उसकी माँ को बिरादरी से निकलवाया था। जिरवा-माय का पूरा इतिहास मेरी आँखों के सामने घूम गया। मैं पूछ बैठी—“क्या हार गई तेरी औरत, जिरवा?”

माँ-बेटी की ज़िन्दगी में कितना साम्य है। मरदों ने कितना उपभोग किया दोनों का! उन्हें कितना भोगा, कितनी ठोकरें मारी, कितना प्रताड़ित किया, कहाँ-कहाँ नहीं भटकी दोनों? कोर्ट-कचहरी तक चढ़ीं और चढ़ाया पर मरद तो आखिर मर्द ही है न! जबर है। कोर्ट का आर्डर तो चुटकी में उड़ा सकता है। ‘कागद’ ले घूमती रही जिरवा-माय, पर ‘काचा’ (रुपया), जात की ‘टाँगी’ (कुल्हाड़ी) की धार, मरद के अहम् की लाठी और बिरादरी की सुग्गे-सी तीखी नाक के सामने ‘कागद’ की क्या औकात है? पंचों के फरमान और हुक्का-पानी बन्द के फतवे के आगे, भला कहाँ टिकेगा औरत के अधिकारों और गुजर-बसर के खर्च का कानून? समाज नहीं मानेगा कोर्ट का फैसला तो क्या कर लेगा कोर्ट का मोहर लगा ‘कागद’? कोई समाज को ही चुनौती देने वाला हो तब न?

जिरवा-माय की पीढ़ी इसके लिए अभी तैयार नहीं थी।

हाँ, जिरवा अपनी माँ से एक पीढ़ी आगे थी। वह जबर निकली। उसने मरदों के ही एक दल को अपने पक्ष में मिला कर पिटवा दिया अपने 'दूसरके' को। जात की 'टाँगी' की धार भोथरी पड़ गई थी और जिरवा की जिद के आगे बिरादरी भी टिक न पाई थी। मरद के छदम् की लाठी को जिरवा ने मरदों के अहम् की लाठी से भिड़ा दिया और खुद 'निछुन्ना' खड़ी मुस्कुराती रही। वह चाल चलना जानती थी, इसीलिए बच भी गई थी। जिरवा-माय की कोख को तो मरद की लाठी ने तो मसल कर लहलुहान कर छोड़ ही दिया था, तिस पर जिरवा-माय खुद को ही अपराधी मानती रही थी। वह अपने को ही 'दूसती' रहती और कहती रहती कि उसी ने बिरादरी का नियम तोड़ा था और तोड़ा था मरद का विश्वास।

मरद वर्षों पहले कलकत्ता गया तो लौटा नहीं। जब वह गया तो रघुनाथ और जिरवा जन्म ले चुके थे। फिर सात बरस बीत गए। कोई खबर नहीं आई। वह जिन्दा है या मुरदा, इसकी कोई खबर न मायके वालों को थी, न ससुराल वालों को। मरद का एक अदृश्य खूँटा जरूर था, जिससे वह बँधी थी। औरत जात तो औरत जात ही है न, फिसल जाती है।

“फिसले के या फिन दूसर मरद ठिन (पास) जाए के अधिकार औरत जात को नाय ह। ई तो मरद का ही हक है एक करे या दो। उकरा के कोई टोके वाला न है। मरद के तो बस, महारू के खर्चा भर पुराय (पूरा करने) के चाही, मरद होय के एही निसानी है।” कहती हुई जिरवा-माय अपनी भूलों के लिए, अपने प्रेम के लिए, खुद को बार-बार कोसती रहती। ऐन उसके 'पलट' (विपरीत) जिरवा ने कभी अपनी स्वच्छन्दता या अपने प्रेम के लिए खुद को अपराधी नहीं माना। यहीं अलग थी जिरवा अपनी माँ से।

फिर भी दोनों बड़ी आसानी से एक मरद से दूसरे के हाथों में फिसलती रही थीं, जैसे इनका अपना कोई अस्तित्व ही न हो, अपनी कोई मरजी ही न हो। इनकी मरजी दूसरों की इच्छा के साँचे में ढलने को सदैव तत्पर रहती थी।

जिरवा-माय की सोच की गलियाँ घूम-फिर कर 'करम' की अंधी गली में आकर रुक जाती थीं और उसके सामने बायस्कोप की तस्वीरों की तरह बीता हुआ जमाना घूम जाता था। क्या नशा हो गया था उसे

उस कोयरी के लिए। उससे मिले बिना मन मानता ही नहीं था। वह ठंडी रात में, दिन की कड़कती धूप में, ठिठुरती भोर में, खेत में, पोखर पर, जंगल में उससे मिलने लगी थी। कभी-कभी वह अपने खेत के काम में उससे मदद भी ले लेती थी।

पति ने पैसा भेजना तो कब का बन्द कर दिया था, अब चिट्ठी भी नहीं आती थी। गाँव वाले, जो कलकत्ता से लौटते थे, उनको भी उसकी खबर न थी। सास भी बेटे का इन्तज़ार करते-करते मर गई थी। ससुर को सूझता नहीं था। अपना कोई देवर था नहीं कि बोल-बतिया लेती। चचेरे, फुफेरे गोतिया थे, जो 'ज़मीन-जैदाद' पर ही नज़र गड़ाए थे। कोयरी ही बाहर-भीतर के काम-काज में उसकी पूरी मदद करता था। वही उसके खेत में हल नाद देता था और मंडी में धान बेचकर पैसे भी ला देता था। वह घर के लिए अपने से धान 'उसना' (उबाल) कर ढेकी में कूट-काट कर तैयार कर लेती थी। ज्यादा काम होने पर कोयरी उसके घर ही पर सो जाता था।

फिर भुनेसरा पेट में रह गया। गाँव वालों ने पुरानी प्रथा के अनुसार उसके पति के पास कलकत्ते में प्रथा के अनुसार 'गमछा' भेजा। गमछा भेजना ही एक सन्देश माना जाता है। गमछे का अभिप्राय था 'तोर महारू के पेट में दूसरे का बच्चा पल रहा है। तुझे बच्चा मंजूर है तो वह गमछा रख ले, नहीं तो घर पर खबर भेज?' 'गमछा' नहीं लौटा, सो लोगों ने समझ लिया कि उसे बच्चा मंजूर है।

कुछ दिनों बाद पति खुद लौट आया। असल में पति को 'गमछा' मिला ही नहीं था। वह कलकत्ते से नहीं, बनारस से लौटा था।

सारा टोला जमा हो गया। जिरवा-माय अपराधी-सी काँपती हुई उसकी नज़र से मुँह चुराती, छिप रही थी पर पेट को कैसे छिपाती? पेट काटकर फेंक सकती, तो वह काट कर फेंक देती। सारा टोला 'गमछे' का परिणाम जानना चाहता था। पति 'गमछे' से अनजान था। जो राह में मिलता, सवाल पूछती नज़रों से उसे घूरता हुआ निकल जाता। बाप ने बेटे से पूछ ही लिया "अब क्या करना है? तोर महारू तो पेट से है। गमछा तो भिजवाय देले तोर ठिन (तुम्हारे पास) अब तै खुदै आ गेलय तो बोल का करे के है?"

नई सभ्यता से, नये मध्यवर्गीय मूल्यों से लैस होकर आया उसका पति, अब 'गमछों' की उघड़ी और खुली मानसिकता से ऊपर उठकर, अपने मन में बड़े लोगों की मानसिकता की 'टाइट' गाँठ बाँध कर आया

था। वह 'बड़कन' की चाल-ढाल सीख आया था भले बड़ा नहीं बन पाया था। वह गुस्से से पागल हो उठा। बिरादरी की पंचायत बैठी! जिरवा-माय के भाई और बूढ़ी माँ को भी बुलाया गया। भाई तो बहन को ठुकरा कर चलता बना था पर माँ कलपती रह गई थी। बूढ़ी माँ के कहने पर वे अगर बहन को घर ले भी आते, तो खर्च तो उन्हीं को ही उठाना पड़ता न! इस पचड़े में पड़ने की क्या दरकार? इसीलिए बहन को नकार कर भाई ने हाथ धो लिए।

“अब वह जिनकी बहू है वही जानें, मारें या रखें। गलती की है तो भोगे।” पल्ला झाड़ कर पंचायत से उठ गया था भाई। अब जिरवा-माय बिरादरी के सामने अकेले खड़ी थी।

‘कोयरी भला काहे ले आएगा तेलियों की पंचायत में? अनकर (दूसरी) जात के पंचायत में इनकर (इनका) कौन काम?’ इसलिए उसे नहीं बुलाया गया पंचायत में। सजा तो औरत को देनी थी न बिरादरी ने! ‘भला दूसर जात का वह कोयरी काहे आता इस तेलिन खातिर दंड भरने?’ औरत-मरद टिप्पणियाँ कर रहे थे।

कोयरी समाज ने भी कहलवा दिया “आपन बहू को दंड दो, हम आपन बेटवा के देख लेब।”

उसका प्रेमी भी नहीं आया उसे सहारा देने। उतनी बड़ी औरत-विरोधी जमात के सामने, कहाँ तक टिकती औरत-जात? जिरवा-माय ने अपना कसूर क बूत लिया।

जिरवा-माय का पति, जिसे अपने गाँव और समाज से विरासत में औरत को देखने का सामन्ती नज़रिया मिला था, समाज के उस पक्ष को भूल चुका था जो ऐसे मामलों में औरत के प्रति उदार था। अब वह औरत के बारे में मध्यवर्गीय शहरी परिभाषा सीख आया था, जिससे उसका नज़रिया अत्यधिक संकीर्ण हो गया था। ग्रामीण समाज में, परदेस में रहने वाले पतियों की औरतों के लिए दी जाने वाली छूट और ढीले नियम अब उसे गँवारू लगने लगे थे। अब वह मध्यवर्गीय छद्म अहम् के कारण शर्म से सिर गड़ाए बैठा था। कभी-कभी वह जिरवा-माय को देखकर घृणा से मुँह मोड़ लेता था। पिछले सात वर्षों से जिरवा-माय के लिए उसके मन में सतत बहती प्रीत की 'सोती' (धारा), एकाएक कहीं 'बिला' (लुप्त हो) गई थी। जिरवा-माय के प्रेम से सदा भरा डुब्बे (पानी में डूबे) धनखेत-सा उसका मन, सूखकर टाँड़ (सूखा सपाट खेत) बन गया था और नफ रत की दरारों जैसा फट-फट गया था।

गाँव के कुछ लड़के स्कूल-कॉलेज में पढ़ने लगे थे। अब उनकी नज़र में 'औरत' इतिहास की किताबों में पढ़ाई जाने वाली सीता-सावित्री और पद्मिनी का रूप ले चुकी थी। रोज़ खेत में खटने वाली मेहनतकश मज़दूर औरत, जो उन्मुक्त और स्वच्छन्द होती है, उनकी डिक्शनरी से गायब हो रही थी। वे सप्रयास अपनी माँ की पीढ़ी को भुलाने की जी तोड़ कोशिश कर रहे थे, इसलिए जिरवा-माय का यह आचरण उनके अहम्-बोध पर भी चोट कर रहा था। उनका खुद का अपना अहम्-बोध जिरवा-माय के पति के अहम् से भी अधिक कचोट रहा था उन्हें। बूढ़े पंच पुरानी परम्परा में चलने की बात करते हुए जिरवा-माय के पेट में पलने वाले बच्चे को स्वीकारने पर जोर दे रहे थे पर स्कूलिया लड़के उन पर सतत् अपना दबाव बढ़ाते जा रहे थे। हो-हल्ला होने लगा था। गाँव की औरतें भौचक्की थीं। कुछ जिरवा-माय को कोसतीं, कुछ कोयरी को और कुछ जिरवा-माय के पति को 'दूस' रही थीं।

“यहीं खड़ा करके इसे नंगा करके पीटा जाय। इसका दंड यही है। साली ने अपने समाज की नाक कटवा दी।” लड़के गरजे।

नंगा करके पीटने पर समाज की नाक जुड़ने या ऊँची होने की यह परिभाषा उनकी अपनी थी, जिसे उन्होंने स्वयं गढ़ा था। भले ही वे लड़के खुद कई लड़कियों से खेतों में छेड़खानी कर के, हर रोज़ समाज की नाक काटते रहते थे पर तेली की लड़की का कोयरी से प्रेम इन्हें सह्य नहीं था।

“जिरवा की माँ और उसके पेट में पल रही औलाद दोनों ही उसके पति की सम्पत्ति में हकदार नहीं होंगे और जिरवा-माय का पति चाहे तो दूसर बिआह (विवाह) रचा सकता है।” पंचों ने दंड सुनाया। अगले दिन तेली टोला छोड़ देने की हिदायत के साथ जिरवा-माय समाज से बहिष्कृत कर दी गई।

किधर जाय वह? वह अपने पति के चरणों में पछाड़ खाकर गिर पड़ी “माफ़ कर देब, फिन (फिर) ऐसन गलती न करबैय। बाप नइखे। भाई रखले के तैयार नइखे, कोयरी टोला में भी जायके मनाही होय गेल, तोंय भी नाय रखबै, तो केने जायब औरत जात, पेट में बच्चा पल रहल है, दया कर तोंय। भले तू दोसर बिआह कर ले, हम ओकरी सेवा करब। जूठा खाय के पड़े रहे दे आपन द्वार पर। समाज ते न निकाले दे!” वह पति के आगे हाथ जोड़ती रही, पर पति का परम्परा से बज़्र हुआ मन नहीं पसीजा।

गाँव के लड़के 'टाँट' कसने के साथ-साथ उसे सबक सिखाने की धमकी भी दे रहे थे। पति चुप था। उसकी चुप्पी से जिरवा-माय बुरी तरह डर गई थी। वह किसी अनहोनी से डर रही थी।

पंचायत के बाद जिरवा-माय अपनी कोठरी में गई तो पति उठकर बाहर चला गया। शंका से उसका मन हिरण बना जा रहा था। डर के मारे नींद नहीं आ रही थी उसे। उसकी आँखों के आगे स्कूलिया लड़कों के क्रूर चेहरे घूम गए, जो बदले की भावना से काठ से सख्त होते जा रहे थे। जिनका अहम् करिया नाग-सा उसे डसने को तैयार था। उसने भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया। एक झपकी आई ही थी कि उसे लगा दरवाजा चूल सहित उखड़ कर उसकी तरफ चला आ रहा है। वह भय से चीख उठी। उसका पति दरवाजा बनकर उसके सामने खड़ा हो गया। उसके मुँह पर स्कूलिया लड़कों की घृणा लिखी हुई थी और लिखा था बिरादरी का सम्पूर्ण आक्रोश। मरद का पूरा अधिकार-बोध, भद्दी-भद्दी गालियों में उमड़ा चला आ रहा था।

उसका पति उसकी कोख को गाली देते हुए पूरे समाज का, सम्पूर्ण मरद-जात का डंडा उठाकर उसकी तरफ लपका और डंडा उसकी कोख .. में... दिया। कोख जिससे वह भी जन्मा था। वह चीख उठी। प्रसव के समय जितनी शक्ति लगाकर औरत बच्चा जनती है, उससे भी अधिक शक्ति लगाकर उसने डंडा कोख से निकाल कर फेंका और खून टपकते-टपकते भाग खड़ी हुई। वह गाँव की पगडंडियों पर, समाज के खूनी पंजों के निशान छोड़ते हुए भागती रही और जा गिरी सरपंच के द्वार पर। रात वहीं काटी। भोरे उठकर प्राइवेट डॉक्टर से टाँके लगवाए। पुलिस-उलीस में खबर नहीं की।

“वे भी तो मरद-जात ही हैं न। कहाँ से लाऊँगी मैं पुलिस को देने के लिए 'काचा' (पैसा)? गलती तो आखिर मेरी ही थी न!” वह अब भी खुद को ही गलत मान रही थी। सरपंच की औरत उसकी दुर्दशा देखकर छटपटा उठी थी।

“आखिर तो किसी की बेटी है न! किसी की भी बेटी के साथ ऐसेने हो सकत है!” यह तर्क दे कर वह जिरवा-माय की सेवा में लग गई थी।

ठीक होने पर वह कोयरी के यहाँ चली आई। फिर शुरू हुआ उसके शोषण का दूसरा दौर। प्रेम और परिवार में युद्ध। बाप और बेटों का तनाव, सौत का अधिकार से लैस डाह और दोनों के बीच पिसती जिरवा-माय। सौत और दूसरी औरत की परम्परागत लड़ाई ने पूरे गाँव को

गुटों में बाँट दिया था। जिरवा-माय ने कोयरी टोले में पंचायत बैठवाई। कोयरी के परिवार ने विरोध किया। जिरवा-माय अड़ गई “पेट में बच्चा तो कोयरी का ही है न, तेली का नहीं। मैं अब न लौटूँगी कहीं। यहीं रहूँगी।”

पंचायत ने फैसला सुनाया “कोयरी उसे रख ले लेकिन घर पर नहीं, अलग से खेत पर।” दोनों खेत पर अलग छप्पर छान कर रहने लगे। जिरवा-माय कोयरी के खेत में दिन-रात मज़दूर की तरह खटती रही। वह पेट में उसके बच्चे को पालती रही और सहती रही अपनी सौत के बच्चों का निहोरा, नख़रा और सौत का गुस्सा।

एक दिन प्रसव-पीड़ा से कराह उठी वह। कोयरी चमाइन को बुला लाया। बच्चे के रोने की आवाज़ सुनाई दी। चमाइन ने बाहर आकर नेग माँगा “लड़का जन्मले है।” एकबारगी कोयरी के मुँह पर चमक आ गई। टेंट में खोंसे हुए सिक्के निकाले। उसने दो ठो सिक्के चमाइन को दिए। टोले में खबर फैल गई “तेलिन ने बेटा जना है।” जिरवा-माय खुश।

“अब चिन्ता न है। बेटा हो गेले है। बप्पा छोड़ भी देगा तो बेटवा पोसेगा वह लड़ के जैदाद (जायदाद) में हिस्सा तो ले ही लेगा।” सुरक्षा की चिन्ता ने उसकी खुशियों को भी बाँट दिया था।

सौत के बेटे-बेटियाँ आए। सौतन भी आई। सम्पत्ति का एक और दावेदार पैदा हो गया, यह चिन्ता सबके मुँह पर उदासी पीत गई। जवान बेटों के सामने कोयरी अपनी खुशी जाहिर करने से कतरा गया। जिरवा-माय सबके चेहरे देख अन्दर ही अन्दर रो गई पर वह आश्वस्त थी।

“जे बेटा जन्मल है ऊ ठीक कोयरी पर ही गेले है कोई भी देख के बोल देतै, एकर बेटा है।” जिरवा-माय को अपने पक्ष में एक और हथियार मिल गया था। उधर कोयरी, जवान बेटे-बेटियों की धमकियों के भय और टटके (तत्काल) जन्मे बच्चे की खुशी के बीच डूब-उतरा रहा था। ऊपर से बहुओं की टिटकारी उसे कोंच रही थी।

“बुढ़ापे में जवान जनी का चस्का लगा है बुढ़वा के। अरे ई तो बेटा-बेटी के औलाद पैदा करे के टैम है। ई घर में बप्पा ही बेटवन से आगे है।” बहुएं उसके आते-जाते ऐसे हँसती कि उनकी हँसी की खनक कोयरी के कानों तक जरूर पहुँच जाए।

जब कोयरी खेत पर बने छप्पर में जिरवा-माय के पास आता तो

उनकी सब हँसी टिटकारी भूल जाता। याद रहता बस जिरवा-माय का गोर-गोर 'चेहरा'। अपने नए जन्मे काले बेटे को गोद में लेकर उसे अपनी बहु-बेटियों का भय और बेटे और दामाद का तिरस्कार बिसर जाता।

“अरे मैं तो अभी जवान हूँ, चार-चार महारू रख सकत हूँ।” उसका अहम् हुंकार उठता।

“यह सरवन (साले) का जाने? सबै मौगा (हिजड़ा) हय, जोरू के गुलाम हय। अरे एक खटे वाला भाई पैदा हो गेले, ई नाय सोचे हय, बस खाली जैदाद का ही सोच रहले हैं सभै। नयका (नया) खेत किन (खरीद) दूँगा ई बेटा खातिर।” वह अपने को आश्वस्त करता।

जिरवा-माय उसके खेत में जी-जान से खटती और अपना बच्चा पालती। उसके पहले मरद से पैदा, बड़े बेटे रघुनाथ और जिरवा को भी उसके ससुराल वाले इसी के पास आकर छोड़ गए थे। पंचैती के बाद जिरवा-माय का पहला मरद कलकत्ता गया तो फिर लौटा ही नहीं। किसी को गाँव में चिट्ठी भी नहीं दी। कोयरी तीनों को पालता था, भेद-भाव नहीं करता था। भले उसे अपने बेटा-बेटी और औरत की बातें सुननी पड़ती थीं।

आखिर एक दिन बेटों ने जोर दे कर बाप को कह ही दिया “देख आपन जैदाद में से एको पाई भी हमनी नाय देब तोरी नइकी के (तेरी नई पत्नी को) या उकरी (उसकी) औलाद के। तू चाहे तो हजारीबाग चल जा, होन्हे ही, मजूरी करके रह। हम खेत पर अब चढ़े नाय देब ऊ तेलिन के। कल बड़ा हो के इकरा (इसके) पेट का बेटा हमर से हिसाब माँइगते (माँगेगा) तो हमनी कुछो न देब! बवाल होये से पहले ही तू अभीये (अभी) से अलग हो जाव। हमनी सब आपन माय के ले के अलग जोत-कोड़ करबै।”

जिरवा-माय भी शंकित थी। रात में जब कोयरी आया तो वह रुआँसा होकर बोली “देख तौँ अपने जीते-जी आपन बेटवा और हमर खातिर कुछ ज़मीन न लिख देब तो काल (कल) के कोय चढ़े न देतै हमरा के ज़मीन पर। हमरा तो दोनों जनम अकारथ हो जायत। न होन्हे (उधर) के, न हेन्हे (इधर) के। अब तोर संग हम अपन जीनगी (जिन्दगी) जोड़ देल है, तो तैं ही अब हमर के उबार चाहे मार। बस हमर के भीख माँगे खातिर रोड पर नाय छोड़। जे जमीन हम जोत-कोड़ के ठीक करले है जिकरा (जिस) पर उपजाय रहल है, ओही लिखाय दे।”

कोयरी बोला “ठीक है काइल (कल) चतरा जायके लिखाय देब।” अगले दिन जिरवा-माय भोर में ही चतरा जाने खातिर तैयार हो गई। न जाने कैसे बेटा-बेटी को खबर लग गई, सबने आकर उसे घेर लिया।

तब जिरवा-माय गरज उठी। उसने गाँव वालों को चिल्ला-चिल्ला कर जमा किया और सौत के बेटों को पंच बैठाने पर मजबूर कर दिया। पंच बैठे। लिखा-पढ़ी हुई। कोयरी ने कबूल किया कि भुनेसरा उसी का बेटा है। पंच ने फैसला दिया कि कोयरी की ज़मीन में भुनेसरा को भी बराबर का हिस्सा मिलेगा। जिरवा-माय के नाम से भी वह वही खेत लिख दे, जो तेलिन (जिरवा-माय) के साथ मिलके उसने जोत-कोड़ कर आबाद किया है। कोयरी ने अगले सोमवार को चतरा जा कर कोर्ट में लिखा-पढ़ी कर दी। घर आने पर लड़कों ने फिर घेरा। खरी-खोटी सुनाई।

बड़े बेटे ने फिर से कोर्ट में स्टैम्प कागज़ पर अपने नाम वही ज़मीन लिखवा ली। जिरवा-माय को पता चला तो उसने जाकर कोर्ट में अर्जी दे दी। कोयरी का दामाद एस. डी. ओ. कोर्ट में चपरासी था। उसने एस. डी. ओ. की मेम साहब को अपने पक्ष में पटा लिया था। उसने उनके पास अपने ससुर की खूब शिकायत भी की थी कि जिरवा-माय ने उसके ससुर को वश में कर लिया है और उसकी सास को भगा दिया है, आदि-आदि। तरह-तरह के झूठे-सच्चे जुल्मों की बातें भी बताईं। एस. डी. ओ. साहब ने स्वभाविक रूप से पत्नी के प्रति सहानुभूति दिखाई। उनकी पत्नी ने औरत के स्वभावजन्य सौतियाडाह की भावना को तरजीह दी और दूसरी औरत की मजबूरी पर कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हुई।

“देखिए आपके यहाँ महँगू महतो के ससुर का केस है। किसी भी हालत में उस चुड़ैल तेलिन के पास ज़मीन नहीं जानी चाहिए। यह ज़मीन उसकी पहली पत्नी को ही मिलनी चाहिए।” उसने अपने पति एस.डी.ओ. साहब को साफ कह दिया। दूसरी औरत का स्थान उनकी डिक्शनरी में होने का प्रश्न ही नहीं था। इसलिए सब कागज़ जिरवा-माय के पक्ष में होने पर भी जिरवा-माय को ज़मीन का कब्जा नहीं मिला। कोयरी शर्म के मारे जिरवा-माय से छिपता रहा। अपने बेटों और जिरवा-माय की खींचा-तानी से ऊब कर वह घर से भाग खड़ा हुआ। वह बोकारो थर्मल में जाकर रहने लगा। जिरवा-माय उसकी खोज में हजारीबाग आई और मेरे पास पहुँच गई। उसने अपनी पूरी कहानी सुनाई और मुझे वह पंचायतनामा दिखाया।

“मोर कोयरी के खोजवाय दे मैया। मोरा हक दिलवाय देब।” वह गिड़गिड़ाते हुए बोली।

मुझे भी कोयरी का इस तरह भाग जाना अच्छा नहीं लगा। तब मैं विधायक थी। मैंने अपने कार्यकर्ता ज्ञानेश्वर, जो बोकारो में रहता था, से कहकर कोयरी को खोजवाया और उसे पुलिस की मारफत अपने पास बुलवाया। जिरवा-माय आकर मेरे यहाँ ही रहने लगी थी। कोयरी आया। मुझसे बातें हुईं। वह जिरवा-माय को देख कर पिघल गया। उसने जिरवा-माय को फिर से वही ज़मीन देने की बात ‘गछी’ (स्वीकारी) और खर्चा देना भी कबूल किया। वह दो रात मेरे यहाँ ही जिरवा-माय के साथ रहा। अगले दिन उसने चतरा जाकर फिर ज़मीन जिरवा-माय के नाम लिख तो दी पर वह जिरवा-माय के साथ लौटा नहीं। इस बार उसने बेटे-दामाद के भय से उस ज़मीन की बजाय जिरवा-माय के नाम वह ज़मीन लिखी थी, जिस पर कुछ उग नहीं सकता था यानी बंजर, पत्थरों से भरी पहाड़ की चौटी वाली ज़मीन!

बड़े फख्र से जिरवा-माय ज़मीन पर कब्जा लेने गई तो बेटे ने पथरीली, बंजर ज़मीन चिह्नवा दी। वह रोती, कलपती, हताश फिर मेरे पास आई। कोयरी भाग चुका था। जिरवा-माय ने कोयरी के खिलाफ खर्चे और ज़मीन के लिए कोर्ट में केस दायर किया। वह केस तो जीत गई पर जीतने पर भी क्या होता है? क्या औकात है कोर्ट के कागज़ की, जब तक कब्जा दिलाने वाला कोई जबर साथ में न हो? फिर चतरा के एस. डी. ओ. कोर्ट में कोयरी का दामाद है। जिरवा-माय खातिर कोर्ट का खर्च देने वाला कोई नहीं था। घूस का खर्च कौन उठाए? कब्जा दिलाने के लिए उसके पास न तो लाठी वालों की जमात थी और न ही उसे खरीदने के लिए पैसा।

“का करूँ मैया? ‘कागद’ है, कोर्ट का मोहर भी लगल है पर कोई पढ़े वाला हो तब न? अकेली औरत जात किस-किस से लड़े? सब तो बेटवन के साथ हैं। अब तो बस जब भुनेसरा बड़ा होगा, तो वही लाठी से कब्जा करेगा ज़मीन पर। मोर जिनगी में तो घर-घर जाकर बरतन-बासन करके गुजर करना ही बदा है।” यह कहकर वह बिलख पड़ी। वह लम्बी साँसें लेकर भुनेसरा के बड़े होने की इन्तज़ार करने की बात कह कर अपने को भरोसा देती रही और खुद को भुलावा भी। उसके अन्तर के बंजर में उगा कब्जे का ‘बिरवा’ (पेड़) कभी मरा नहीं। वह बढ़ता रहा,

फुनगता रहा, झरता रहा और फिर 'हरियर' होता रहा। ग्रामीण परिवेश में ज़मीन की कितनी ताकत और औकात होती है यह मैंने उस दिन जिरवा-माय के विलाप से जाना।

जिरवा-माय ने जिरवा का ब्याह कर दिया था। जिस घर में जिरवा ब्याही, उसी घर की लड़की से भुनेसरा को भी ब्याह दिया। रिश्ते के लिए कोई और तैली तैयार न था। लड़का जिरवा से ग्यारह वर्ष छोटा था और भुनेसरा की पत्नी उससे पांच वर्ष बड़ी थी। भुनेसरा जवान होगा तो औरत को लाएगा और जिरवा का मरद जवान होगा तो उसे ले जाएगा, ऐसा अलिखित करार और बेमेल 'गोलट' ब्याह इस समाज में आम बात थी। जिरवा-माय हजारीबाग में रहकर बरतन-बासन का काम करने लगी। कोयरी कभी आता भी, तो जिरवा-माय उससे प्यार से दो बात न कर के, बस ज़मीन का रोना ले बैठती। उलाहनों की मार और जिरवा-माय की जरूरत और इच्छा के अनुसार ज़मीन न देने की मजबूरी से घबरा कर कोयरी भाग जाता। गाँव में कोयरी के बेटा-बेटी को जिरवा-माय से उसके फिर मिलने-जुलने की भनक लग गई थी। इस बार जब कोयरी घर गया तो पूरे परिवार ने उस पर अपना पूरा प्रेम उँड़ेल दिया। बहुएँ भी अचानक प्रेम से बतियाने लगीं और उस रात कोयरी मर गया। मुखिया-सरपंच से मिलकर उसी रात उसे जला भी दिया गया। न जिरवा-माय को खबर दी और ना ही संस्कार में उसके बेटे भुनेसरा को बुलाया।

“मैं होन्हे (वहाँ) होती तो पुलिस लाकर लाश रुकवा देती मैया और पोस्टमार्टम करवाती उसका! वह सभी जन मिलके उकरा जहर दे देलै हैं।” वह मन मसोस कर रह जाती। उसका चेहरा गुस्से से लाल हो जाता और जोर-जोर से वह सौतेले बेटे-बेटी को गरियाने लगती।

जिरवा अपनी माँ के साथ मेरे ही पास रहने लगी थी और जल्दी-जल्दी जवान होने लगी थी। बगल की दुकान के कर्मचारी के साथ उसका हेल-मेल कुछ ज्यादा ही बढ़ रहा था। जिरवा-माय उसे टोकती न थी। मेरे पास शिकायत आई तो जिरवा-माय ने यह कहकर टाल दिया “जलन के मारे सभी मेरी बेटी पर दोष मढ़ रहे हैं।”

उधर जिरवा-माय का अपना सम्बन्ध बगल के होटल में रह रहे एक सिपाही से बढ़ रहा था। वह कभी-कभी रात को उठ कर उसके पास

चली जाती या सिपाही ही जिरवा-माय के पास मेरे घर के हॉल में आ जाता। कुछ भनक मुझे मिली थी। अधिकतर बाहर रहने के कारण मैं विशेष हस्तक्षेप नहीं कर पाती थी। करती भी क्या? दोनों की रजामन्दी थी।

दरअसल जिरवा-माय जिरवा के सम्बन्धों को अनदेखा करती हुई कोर्ट का खर्च जिरवा के मित्र से करवा रही थी और सिपाही से अपनी ज़मीन पर कब्जा करने की धुन को पूरा करवाना चाहती थी। कोर्ट की पैरवी सिपाही कर देता था और खर्च जिरवा का मित्र चलाता था इसके बावजूद नतीजा कुछ नहीं निकला। सिपाही छोड़कर कहीं चला गया और जिरवा का मित्र जिरवा को लेकर भाग गया। उसने केस में रकम खर्च कर जिरवा-माय का केस तो जितवा दिया पर वह कब्जा दिलाने में सक्षम न था। जिरवा-माय रोती-पीटती बेटी को गरियाती, उसके मित्र को कोसती, सिपाही को 'दूसती', अपने करम के फूटने की गुहार लगाती, चौका बरतन कर के दिन गुजारने लगी। एक दिन जिरवा लौट आई। पता चला कि उसके मित्र ने अपनी बिरादरी के दबाव में आकर अपने धर्म और जात की ही लड़की से विवाह कर लिया है। जिरवा कुछ दिन सौत के साथ रही। सौत का नाम रेशमा था। रेशम जैसी ही नरम, मुलायम और सुन्दर भी थी वह। जिरवा हट्टी-कट्टी, गद्दर-गद्दर देह, मोटी, छोटी पर हिरनी-सी चंचल आँखों से घुर-घुर प्रेम उड़ेलती मुक्त स्वच्छंद?

वह न जाने क्यों रेशमा की मुलायम नाजू क काया से भय खाने लगी थी। उसके सामने वह खुद को हीन मानने लगी थी। हालाँकि उसके मित्र नज़ीर ने, जो स्वयं गोरा-चिड़ा और खूबसूरत नौजवान था, कभी भी जिरवा को कम नहीं आँका। उसे जिरवा की तोतली बोली से भी लगाव था और उसकी निश्छल मुस्कान से भी। न जाने क्यों जिरवा खुद को रेशमा के समक्ष फालतू, बेमेल और गै रजरूरी समझने लगी थी। मन ही मन वह अपने मित्र-पति नज़ीर पर भी गुस्सा थी, अपने पर भी और अपने रूप पर भी। इसी कुंठा में उलझी जिरवा उपेक्षित-सी, घायल सर्पिनी-सी माँ के पास लौट आई।

जिरवा-माय अब दो-दो कलंकों के भार तले दबी जा रही थी। उसका और उसकी बेटी का करम एक ही तरह फूटा था। वह लम्बी साँस लेकर बराबर कहती "दोनों को नासपीटे मन ने छला, परेम (प्रेम) के दुमुँहे साँप ने डंसा है मैया। हम दोनों माय-बेटी के करम एके जैसन फूट गेलय (गया)।"

एक दिन जिरवा-माय ने सवेरे-सवेरे आकर मुझे जगाया 'मैया मोर 'पहलका' हमनी के खोजत-खोजत आय गेले। बहुत बीमार हय, इलाज करावे में ढेर काचा (पैसा) लग जेतय (जाएगा)। तनि डागदर (डॉक्टर) के फोन कर कहिदे मैया। ओकर (उसका) बढ़िया इलाज कराय दे, आखिर तो मोर पहलका सामी (स्वामी) है न! माँ-बाप तो ओकरा संगेई बिआह कर देलके। अब छोड़ गेले तब की करबे, आय भी तो गेले है ऊ हमरे ई पास न (आया भी तो है वह मेरे ही पास न)! गोद में बिठाय के हमर दोनों के बिआह भेले है मैया।”

मैं भौंचक-सी उसे ही देखती रह गई। नारी का उदार मन उस मूढ़ महिला में साकार होकर खड़ा था। शेक्सपीयर की उक्ति 'वोमेन दाऊ नेम इज इनफाइडिलिटी' उस उदात्त औरत के सामने हवा हुई जा रही थी। औरत का यह रूप क्षमा को भी लजा रहा था। खून से भरा लथ-पथ वह डंडा, कोख से टपकता खून, एकबारगी एक मरद का पर्याय बनकर खड़ा हो गया था मेरे सामने। उस औरत का पीड़ा से पीला पड़ा चेहरा... और अब उसी मरद की ज़िन्दगी के लिए भीख माँगता हुआ पीड़ा से रुआँसा चेहरा!... सब गड्ड-मड्ड हो रहे थे। क्षमा की मूर्ति बनी वह औरत बार-बार मुझसे अपने 'सामी' (स्वामी) के प्राणों की रक्षा के लिए मदद माँग रही थी।

मैंने डॉक्टर को फोन कर दिया, कुछ दवा का इन्तजाम हुआ, कुछ उसे स्वयं खरीदनी पड़ी। जिरवा-माय ने उस पर अपनी कमाई का सब कुछ खर्च किया। वह रात-दिन उसकी सेवा में लगी रही। उसने अपने 'पहलके' को वहीं अस्पताल में भर्ती कर दिया थी। जिरवा अब सयानी थी। पहलके से पैदा बड़ा लड़का रघुनाथ तो दादा के घर चला गया था पर दूसरके का पैदा बेटा भुनेसरा यहीं था। वह भी बाप की सेवा में लग गया। भुनेसरा को बाप की परिभाषा की समझ नहीं थी। इसलिए उसने माँ से कोई सवाल नहीं किया। माँ ने कह दिया बाप है, उसने मान लिया। सच ही कहते हैं कि मातृत्व एक तथ्य है पितृत्व एक विश्वास।

अनन्त सेवा करने पर भी उसका 'पहलका' मर ही गया। जिरवा-माय इसी अहसास से धन्य हो रही थी कि वह उसी की बाँहों में मरा था। जैसे उसके सारे पाप धुल गए हों। बड़ी सेवा की थी जिरवा-माय ने उसकी। उसने पूरे विधि-विधान के साथ उसका किरिया-करम भी किया था, तभी उसे समाज ने वापस लिया था। तेली के लौटने के बाद उसके बेटे भुनेसरा को भी, जो कोयरी का जन्मा था, तेली समाज में स्वीकार

कर लिया था। जिरवा-माय अब सब त्याग कर 'पहलके' की बन कर जीना चाहती थी। अब मन नहीं भटकता था। सभी मर्दों ने धोखा दिया था न! आखिर 'पहलका' ही काम आया था। मरने वक्त तो आखिर वह उसी के पास पहुँचा था? वह उसे अपनी बेवा की पदवी तो दे ही गया। उसके लिए यही सबसे बड़ी बात थी कि उसकी बिरादरी ने उसे, उसके स्वामी का किरिया-करम करने की इजाजत दी और भोज-भात के लिए जिरवा-माय को कर्जा देना भी गछ लिया, भले ही सूद की दर दुगुनी लगाई थी। सूद की दर ज्यादा लगाई थी तो उससे क्या हुआ? उसके लिए, उसके रूढ़िग्रस्त मन के लिए बिरादरी का उसके घर भोज में शामिल होना ही बड़ी बात थी। दंड तो आखिर देना ही पड़ता न! इसलिए उसे पूरे गाँव को भोज कराना पड़ा था। सिर से पाँव तक लद गई थी जिरवा-माय कर्ज से। अब बाकी बचा ही क्या था उसके पास। अब तो ज़िन्दगी भर पति के काम-काज में हुए खर्च का कर्ज ही उतारना है न उसे। भुनेसरा बड़ा होकर आज न कल, गोतिया लोगों से लड़कर अपने बाप के गाँव वाली ज़मीन ले ही लेगा, भले उस पर आज वे लोग काबिज हैं। गोतिया लोगों ने भोज में अपना हिस्सा नहीं दिया तो क्या हुआ, कर्ज तो दे ही दिया था। करम ही फूट गए थे न जिरवा-माय के कि वह भटक गई। यही सोच उसे ज़िन्दा भी रखे हुए थी और झुलसा, जला भी रही थी।

जिरवा ने कभी अपनी माँ को अपराधी नहीं माना, डरपोक भले माना हो। वह अपनी नन्हीं ज़िन्दगी में खूब युद्ध लड़ी समाज के खिलाफ और पा गई थी एक प्रतिष्ठा। मित्र के घर से अपमानित होकर लौटने पर भी उसने हार नहीं मानी। उसका मित्र जब फिर नौकरी करने हजारीबाग आया तो वह पहुँच गई उसके मालिक के पास और हंगामा खड़ा कर दिया। मालिक ने उसके मित्र को उस दुकान से निकाल दिया। जिरवा को इस पर भी संतोष नहीं हुआ। उसने मुहल्ले के दादा लोगों से संपर्क शुरू किया और एक दिन बीच चौराहे पर उस मित्र को उसने अपने भी पीटा और दादा लोगों से भी पिटवाया। उसका मित्र आजिज़ आकर दिल्ली भाग गया। जिरवा उसके गाँव जाकर उसका दिल्ली का पता ले आई और दिल्ली उसके छापेखाने में भी पहुँच गई। उसका मित्र उससे 'बियाह' करने को तैयार तो नहीं हुआ पर साथ रखने को तैयार हो गया। जिरवा निराश-हताश लौटी लेकिन फिर भी हारी नहीं ज़िन्दगी से। उसने मजूरी करनी शुरू कर

दी। जिरवा-माय ने भी अब सब्जी बेचकर गुजर करना शुरू कर दिया था। अब माँ-बेटी अलग घर लेकर किसी खटाल में रहने लगी थीं।

एक दिन रोते-रोते जिरवा-माय मेरे पास आ पहुँची “जिरवा राजमिस्त्री के संग कश्मीर भाग गेले है मैया, हमर नाक कटाय देलै। मिस्तिरिया के पहलकी मेहरारू है, चार-चार बेटा है। हमर भाग फूट गेले। अब जिरवा भी मोर जैसन ही हो गेले।”

मेरा मन हुआ कि कह दूं, “तुम्हीं ने तो उसे छूट दी थी।”

पर जिरवा के प्रति कोई बुरा शब्द कहना मुझे गँवारा न था, चूँकि मैं उसे बहादुर मानती थी। थाना को खबर कर दी गई। दो महीना बाद जिरवा और राजमिस्त्री पकड़ा कर आए।

“हमी एकला (इसको) के भदा (भगा) के ले गेले हजूल (हजूर), ए हमला (हमरा) के नाय भदाय (भगाया) है। हम आपन मलजी (मर्जी) से इकला संग बिआह भी कल (कर) लेले। इकला बच्चा हमले (हमरे) पेट में पल लहल (रहल) ह्य।” जिरवा ने कोर्ट में बयान दिया।

कोर्ट समेत सभी ठठा कर हँस पड़े। पुलिस खिसियाई-सी बगलें झाँकने लगी। जिरवा ने अपनी माँ को झुठला दिया। जिरवा-माय कोर्ट में ही जिरवा को गरियाने लगी। मिस्त्री की जमानत हो गई। माँ से अलग होकर, वे दोनों एक साथ रहने लगे। जिरवा को राजमिस्त्री से एक बच्ची पैदा हुई। मिस्त्री और जिरवा तापिन कोलियरी में खटने चले गए। कोर्ट में केस अभी चालू था। राजमिस्त्री अपनी कमाई, अपनी पहली औरत और बच्चों को देता और जिरवा की कमाई पर ऐश करता। जिरवा के मन में कुछ शंका पैदा होनी शुरू हो गई थी। उसने राजमिस्त्री के घर जाने की जिद की। एक दिन वह खुद ही अकेले उसके गाँव मंडई जा धमकी। खबर लगते ही राजमिस्त्री भी पीछे-पीछे भागते हुए आया। उसके जवान बेटे लाठी लेकर द्वार पर खड़े हो गए और उन्होंने जिरवा को घर में ढुकने नहीं दिया। उन्होंने अपने बाप को भी घर में आने से मना कर दिया। जिरवा आहत् शेरनी-सी मिस्त्री के साथ कोलियरी लौट तो आई, पर उसने उसे अपनी कमाई का पैसा देना बन्द कर दिया।

अब जिरवा की पिटाई शुरू हुई। जिरवा भागकर फिर माँ के पास आ गई। केस अभी चालू था। मिस्त्री को इसका अहसास था, इसलिए वह खुशामद करके, जिरवा को मना, फुसला कर फिर अपने साथ ले गया। जिरवा की कोर्ट में हुई गवाही के कारण मिस्त्री पर उसे भगाने का केस खत्म हो गया। मिस्त्री के पास कोर्ट का फैसला आ गया था। फैसले की

कापी मिलते ही वह जिरवा को छोड़ कर इस बार अकेले ही फिर से कश्मीर भाग गया। जिरवा उसको खोजने कश्मीर गई पर वह नहीं मिला। वह फिर से माँ के पास लौट आई। इस बार मुहल्ले के दादा, जिन्होंने उसके मित्र की पिटाई में उसकी मदद की थी, उस पर हावी होने की कोशिश करने लगे। नहीं मानने पर उस पर झूठे आरोप लगाकर, वे उसे घर खाली करने की धमकी भी देने लगे। जिरवा-माय रोती-कलपती फिर मेरे पास आई लेकिन जिरवा सीधे उन दादा लोगों के विरोधी-दल वालों के पास पहुँच गई। मुझे भी उसने निडर होकर सब सच-सच बता दिया। दो दलों की लड़ाई थाना के हस्तक्षेप से रुकी। जिरवा उसी घर में बरकरार रही।

अब मुहल्ले वाले भी उसका लोहा मानने लगे थे। उसका अपना बड़ा भाई रघुनाथ भी उसके पास आकर रहने लगा था। खटाल के लोगों ने भी उसका खूब साथ दिया था। भाई कॉलेज में पढ़ने जाता था। भुनेसरा रिक्शा चलाता था। वह अपनी माँ को एक पैसा भी नहीं देता था। अब जिरवा को भाई की इज्जत का ख्याल भी रहने लगा था। इस दल या उस दल के दादा लोग कभी-कभार उसको तंग भी करते थे। समय की जरूरत और वक्त की नज़ाकत के मुताबिक वह कभी झुक जाती, तो कभी अड़ जाती। ऐसे समय में उसकी अपनी मर्जी या इच्छा का सवाल ही नहीं उठता था। पैसे की जरूरत हो या बेटी के लिए हॉरलिव्स की या चार दिन से काम न मिला हो तब उसकी इच्छा नहीं, उसकी भूख उसकी जरूरत बन जाती थी, जिसे वह अपनी देह से दूसरों की भूख मिटा कर, मिटा लेती थी। देह का क्या है? देह रहेगी तो न वह बच्ची को पालेगी और खुद भी जिन्दा रहेगी। देह देकर अगर जिन्दगी मिलती है तो इसमें क्या हर्ज है। ऐसे भी तो लोग डरा-धमका कर जबरन उसकी देह भोगते ही रहे हैं। जिन्दा रहने के लिए देह का सौदा उसे खलता जरूर था पर यह जरूरी भी था। वह जीना तो अपनी शर्त पर चाहती थी पर जीने के लिए कभी-कभी दूसरों की शर्तें मानना भी उसकी मजबूरी हो जाती थी। किसी का जरूरी काम करवाना हो और उससे जिरवा का नाम होता हो, तो भी वह अपनी इच्छा से समझौता कर लेती पर काम करवा कर ही रहती! एक जगह इज्जत गई तो दूसरी जगह इज्जत पाई। यह सौदा उसे बुरा नहीं लगता था। इससे उसे दूसरों के काम आ सकने की, खुद कुछ कर सकने की संतुष्टि तो मिलती थी पर इज्जत और प्यार भी बहुत

मिलता था उनसे, जिनकी वह मददगार बन कर डट जाती थी। इज्जत के इस आदान-प्रदान में कम से कम वह लुटती तो नहीं थी न ही लूटी जाती थी। आखिर हर रोज़ भी तो वह अपने श्रम की सौदेबाजी ही करती थी न! उसी सौदेबाजी के बल पर वह ज़िन्दा थी। इस सौदेबाजी को वह श्रम की नहीं, अक्ल की सौदेबाजी मानती थी, देह की सौदेबाजी नहीं! देह तो श्रम के साथ भी बिकती ही है। खाली कोख को ही लोग देह क्यों मानते हैं? देह तो साधन मात्र थी, उस इस सौदे में। कोई चाहे या ना चाहे, देह तो 'जबर' लोग लूट ही लेते हैं गरीबों की तो क्यों न वह लूटने वालों को ही मोहरा बनाए? उसकी कुछ कर दिखलाने की ललक, वक्ती तौर पर किए गए समझौतों को लक्ष्य निर्धारित हथियार बना देती थी। अब उसकी आकांक्षा के आगे इज्जत का झीना परदा अप्रासंगिक हो गया था। इज्जत की परिभाषा अब वह स्वयं गढ़ने लगी थी। इसी प्रकार समझौते करती और नकारती, अपनी शर्तों पर जीने की नाकाम या कामयाब कोशिशें करती जिरवा, एक दिन पूरी तरह अपनी शर्तों पर जीने की तमन्ना पालते हुए, ज़िन्दगी की चुनौती स्वीकार कर रही थी।

अब उसका अपना एक व्यक्तित्व बनने लगा था, जिसकी इज्जत बचाने के लिए भी, उसे अपने मन पर काबू रखना लाजिमी लग रहा था। दूसरों को अपना मन वश में रखने को वह मजबूर नहीं कर सकती पर अपना मन तो काबू में ला सकती है। जब कभी जिरवा का मन अकेलेपन से ऊब कर प्यार के दो बोल सुनने या दो पल बिताने को ललकता और कलेजा धक-धक करता, तो वह यही सारे तर्क देकर अपने मन को समझाती। अब तो भाई की इज्जत का सवाल भी उठ खड़ा हुआ था। अब वह अपनी बिरादरी में लौटने की बात सोचने लगी थी। उसने कुछ पैसे भी जमा कर लिए थे। छोटी बच्ची को वह प्यार से रखती थी और उसे पढ़ाने के सपने भी पालने लगी थी। उसने बिल्डिंग में रेज़ा का काम छोड़ दिया था। वह अपने आगे रेज़ा रख कर उनसे काम करवाने लगी थी। उसके दबंग व्यक्तित्व से ठेकेदार भी घबराता था और मज़दूर भी। वह खुद खटना जानती थी, इसलिए किसी को एक मिनट फाँकी न मारने देती थी। मालिकों को भी मज़दूरों का एक भी पैसा मारने नहीं देती थी। छोटी-मोटी मेट बन गई थी जिरवा। यह उसकी स्वतः अर्जित उपाधि थी। किसी की पैरवी के बल पर वह मेट नहीं बनी थी। इसका भी उसे गुमान था। 'मेट' की पदवी उसे इज्जत

का प्रतीक लगती थी। उसने 'इज्जत' को खुद से पारिभाषित कर अपने सपनों की सूची में दर्ज कर लिया था।

किसी गाँव से थाना-पुलिस का केस आता तो उसकी पहुँच के कारण अब लोगबाग जिरवा के पास पहुँच जाते। जिरवा कभी मेरे पास, कभी वार्ड कमीश्नर के पास, तो कभी मुहल्ले के दादा लोगों के पास मामला लेकर पहुँच जाती और गाँव के लोगों की मदद करती या करवाती। थानेदार भी उसका लोहा मानने लगा था और कोर्ट के वकील भी। मेरे यहाँ आने-जाने के कारण उससे अखबार वाले भी परिचित हो गए थे। वह उनके यहाँ भी कोई न कोई खबर लेकर जा धमकती थी। जिरवा अब खबर बनने लगी थी। मर्दों के हाथों फिसलती हुई जिरवा ने अब अंगद की तरह अपने पाँव अपनी बनाई ज़मीन में जमा लिए थे और मर्दों को अपनी इच्छा के अनुसार घुमाना भी शुरू कर दिया था। हट्टी-कट्टी थी, गोलमटोल थी, बोलने में तुतलाती थी, पर थी निश्चल और मुँहफट। साफ बात करने वाली। पेट में बात तो न उसे पचती थी और न ही उसकी माँ के। मुसीबत में पड़ने पर जिरवा-माय गिड़गिड़ाते हुए मेरे पास आती या अधिकारियों के पास जाती। अपनी माँ के ठीक विपरीत, जिरवा गुस्से से उबलते हुए, तर्क पर तर्क देते पहुँचती।

“लड़का जवान हो गया है बेटी के विदा कराय दो।” जिरवा के ससुराल वालों ने संदेश भेजा था।

इसके पहले एक बार जिरवा-माय जिरवा को ससुराल छोड़ आई थी। 'बुतरू मरद संग कैसन रहूँ?' कहकर जिरवा भाग आई थी। दरअसल तब तक उसका मित्र उसे मर्द के सहवास का अर्थ समझा चुका था। पर 'बुतरू' अब मरद बन गया था और जिरवा का मर्दों के स्वाद से कसैला और ऊबा हुआ या अपनी नयी अर्जित शक्ति से दरपाया हुआ मन, उसे पति के अदृश्य खूँटे की ओर जाने को उकसा रहा था। उसे मध्यवर्गीय दृष्टिकोण, इज्जत-सम्मान और आदर का चस्का लग चुका था। इज्जत-सम्मान, आदर जो उसकी तरह के समाज में किसी भी मरद-औरत को कभी भी हासिल नहीं हुआ को पाने की ललक उसके मन में ही नहीं, उदर में भी जग गई थी और कोख में भी। वह सर्वहारा समाज से उठकर मध्यवर्गीय समाज के द्वार पर आ खड़ी हुई थी। उन्मुक्त स्वच्छन्द आचरण से निकल, निषेधों के दायरे वाले समाज में प्रवेश करने को उत्सुक थी जिरवा। वह छोटी बिरादरी के फतवे की ढीली पकड़ से छूट कर मध्यवर्गीय स्वनिर्मित-वर्जनाओं के बड़े जाल में फँसने

जा रही थी। वर्जनाएं जिन्हें तोड़ना आत्महत्या या हत्या का रूप ले लेता है या फिर आग की लपट बन जाता है। वह कुएँ से निकल कर मृगतृष्णा की खाई की तरफ दौड़ रही थी, जहाँ इज्जत और आदर, सम्मान का एक कृत्रिम घेरा साँसों पर भी रोक लगा देता है। वह अंधविश्वासों को तोड़ कर नहीं, उन्हें साथ लिए-दिए नये विश्वासों के मकड़-जाल में फँसने की तैयारी कर रही थी। अगर वह इसी तरह केवल इज्जत-आदर के सम्मोहन में थिरकती रही तो वहाँ उसकी मुँहफट जबान, निश्छल मन और साफगोई, एक दिन बेमानी कर दी जाएगी। हाँ! अगर वह इन वर्जनाओं छद्म प्रतिष्ठा और इज्जत का सम्मोहन तोड़कर चली तो वह अपनी शर्तों पर जी लेगी। उसे उस समाज के दुमुँहेपन से जूझना होगा, तभी वह उस पर काबू पा सकेगी और उसमें अपनी पहचान बना पाएगी। पहचान जिसे कोई समाज आसानी से बनने नहीं देता।

संभवतः शहरी मान्यताओं के अनुसार, जिसमें किसी मर्द का ठप्पा होना जरूरी है, का एक व्यामोह पाल कर, वह अपने 'पहलके' के साथ रहने का मन बना रही थी।

यह उसका संक्रमण काल था। एक समाज से दूसरे समाज में जाने की, एक युग से दूसरे युग में प्रवेश करने की घड़ियों के बीच का समय। भोर या साँझ का वह समय, जिसमें न रात की कालिमा होती है, न दिन की चमक, बस एक कुहासा, एक धुँधलका रहता है। कुछ जाने का अहसास, कुछ आने का आभास रहता है। बस एक दोराहे पर खड़े होने का अहसास, सशक्त और दुविधाग्रस्त होकर, झाँकता रहता है। ठीक उसी तरह जिरवा भी बदलाव की भोर में दिन की धूप से डरी-डरी, रात से पीछा छुड़ाते हुए खड़ी थी या फिर बदलाव की साँझ में, दिन की जलन से झुलसी, रात की शीतलता अगोरती अँधेरे से डरती बढ़ रही थी। उसके लिए बढ़ना जरूरी था चूँकि बढ़ना गति है और गति ही जीवित रखे हुए थी उसे। जीवन को वह छोड़ नहीं सकती, इसलिए कुछ-न-कुछ करती रहती थी। निर्णय लेती थी और निर्णय ले सकने की अपनी हिम्मत पर गर्व महसूस कर, दुगुने उत्साह से और कड़े फैसले लेती थी।

शायद पहलके के पास लौटने का फैसला भी उसने चुनौती मान कर लिया हो? आज समाज की वही कसौटी उसके पक्ष में थी, जिसने उसकी माँ की कोख को लहू-लुहान कर छोड़ दिया था जिसने उसकी माँ और उसे तिरस्कृत कर निकाल दिया था घर में नहीं रखा था जिसने उसे

कोर्ट-कचहरी चढ़ा दिया था जिसने उसकी माँ और उसे रखैल बनने पर मजबूर किया था जिरवा आज उसे बाइज्जत स्वीकार कर रही थी। 'रखैल' की वापसी हो रही थी 'घरनी' बन कर। आज उसकी वापसी उस समाज की नाक ऊँची करेगी जिस समाज की नाक उसकी माँ और उसके चलते कटी थी। है तो वह उसी माँ की बेटी न, जो बहिष्कृत कर दी गई थी। इस गुमान को पूरा करने के लिए भी शायद उसने यह निर्णय लिया था। वह झुक कर कोई फैसला नहीं करेगी, ऐसा मुझे विश्वास था। मैंने उससे उसकी वापसी का कारण जोर देकर नहीं पूछा। शायद इस डर से कि कहीं उसकी बहादुरी में मेरा विश्वास टूट न जाए। मैं जानती थी जिरवा कायर नहीं है। जिरवा को अपराध-बोध ने कभी घेरा ही नहीं था, इसलिए वह मुक्त थी, स्वच्छन्द थी। वह औरत की अपनी शर्तों पर जीने की लड़ाई में अगुआ बन कर अगली कतार में खड़ी जूझ रही थी।

“हम हाली (हारी) नाय ममी, हमनीं तो जीत गेलय। हाला (हारा) तो ओहे लोग है, जे हमल घल (घर) ते बाहल (बाहर) कर देयल हले। ओ ही त अब हमनी के वापस बुलाय लहल है।” उसने तुतलाती जबान में मुस्कराते हुए दृढ़ निश्चय के साथ कहा। मैं हँस दी उसके तुतलाते-भोलेपन पर, उसके तुतलाते अडिग विश्वास पर। उसके ज़िन्दा रहने की जिद ने मुर्दा समाज को पोस्टमार्टम के टेबुल पर पहुँचा दिया था! वह खुद ज़िन्दा थी! अपनी स्वच्छन्द, मुक्त तुतलाती हँसी हँसती, जिरवा जैसी हँसी हँसती जिरवा, जिरवा जैसी ज़िन्दगी जीती जिरवा। वह किसी की अनुकृति नहीं थी! वह अपनी पहचान खुद थी जिरवा-माय से बहुत आगे बढ़ी हुई जिरवा! चुनौतियाँ स्वीकारती जिरवा!

“पर क्या वर्जनाओं से भरे मध्यवर्गीय समाज में तुम अपनी शर्तों पर जी पाओगी जिरवा?” यह सवाल मेरे गले में ही अटक गया...

प्यारी

सीता की बड़ी बहन प्यारी! सुमित्रा की बड़ी बेटी प्यारी! राँची के लोडर दंगल की कमाऊ कामिन प्यारी! खूब काली है। आदिवासी है न! करमाली अर्थात् लोहरा है! लोहार का काम नहीं हो तो जंगल से लकड़ी लाकर खटिया ठोकना, लोहे की काँटियाँ बनाना, डोलची रिपिट करना, खुरपी, कुदाल बनाना उनका पुश्तैनी काम है। जबसे ट्रकों की टूटी पत्तियाँ सस्ते में मिलने लगी हैं, तब से तलवार-भाला तक गाँव में बनने लगा है। प्यारी अपने बाप के साथ राजा खदान में खटने आई है। हालाँकि घर में सभी सामान अभी भी मौजूद है पर इन्होंने पुश्तैनी काम छोड़ दिया है। सब के घर-पड़ोस की जरूरतें राँची वाले दंगल ही पूरा करते हैं। केदला कोलियरी वाले मज़दूर तो उनसे अपना गैँता भी पजवाने आते हैं। (कोलियरी में औजार की धार तेज करने को 'पजाना' कहते हैं।)

तो प्यारी और उसका मर्द शीतल, दोनों खटते हैं। शीतल को दारू की लत लग गई है। वह महुआ महरानी की नज़र चढ़ गया है, जो उसे छोड़ती ही नहीं। कोलियरी में खटने के साथ-साथ, उसने महुआ-दारू चुआने का धँधा भी घर में शुरू कर दिया है। बगल में लुगू पहाड़ है, जहाँ पचमों, राहों का जंगल है और ढेरों महुआ गाछ हैं! कोई रोकने-टोकने वाला नहीं। वह टोकरी की टोकरी महुआ किन (खरीद) लेता है और चुआता है। कुछ बिक्री-बट्टा करता है, बाकी अपने पीने को खुला-खासा बच जाता है। शीतल को पीने की अब ऐसी लत लगी है कि वह भोरे-भोरे मुँह धोने की बजाए दारू से ही कुल्ला करता है। खदान पर भी झूमते-झामते जाता है। प्यारी उसके 'बाँहटे' (बदले) भी खट कर

उसका काम पूरा कर देती है पर मर्द को बात सुनने नहीं देती। शीतल ज्यादा पी कर गिर जाता है, तो उसे अगल-बगल के मज़दूर उठा कर घर लाते हैं और कहते हैं “ले सँभार अपने मतवाले को, कहीं पोखरिया में डूब न जाय! ख्याल रख।”

प्यारी बड़े जतन से थाम कर उसे खटिया पर सुलाती है। खुद ज़मीन पर ही ‘सूत’ (सो) जाती है। आखिर धौड़े में जगह ही कितनी है? एक खटिया-भर जगह है। महुआ से भरी हँडियाँ, कड़ाहियाँ, खटिया भर जगह में भरी रहती हैं।

“ले, खा! पी-पी के शरीर गला रहा है, खाएगा नहीं तो पेट काट देगी दारू! कुछ ख्याल रख अपना। तुझे खटने नहीं बोलती! मैं ही खट लूँगी पन शरीर का ध्यान तो रखे पड़ते!” प्यारी ने खाना पका कर, प्यार से थाली परसते हुए कहा।

शीतल होश में रहता है तो प्यारी के सामने कान पकड़ कर उठक-बैठक तक कर लेता है पर जैसे ही प्यारी किसी काम में इधर-उधर हुई कि शीतल की नज़र हँडियाँ में पड़ी ‘इल्ली’ (चावल से बनी एक किस्म की शराब) पर जा टिकती है। फिर लाख मन को मना करे पर मन है कि छूमन्तर हो जाता है। हँडिया के गिर्द, घिरनी-सा चक्कर काटने लगता है फिर भाभड़-सा घूम कर, चटाक से हँडियाँ में ही घुस जाता है। और बस शीतल पीना शुरू कर देता है। ऐसे प्यारी अपने पति को बच्चे की तरह पोसती है। खुद खाना बनाती है और उसे खिलाती है। यहाँ तक कि नहाने का पानी भी वह ही, भर के ला देती है। न जाने शीतल के चेहरे को देखते ही वह क्यों उसके भोलेपन पर मर मिटती है। शीतल भी प्यारी के बिना रह नहीं सकता! वह मातल-मातल ही घूमता है पर घूमता है... उसी के इर्द-गिर्द उसी के पीछे-पीछे!

कोलियरी में यूनियन बन गई है। प्यारी भी उसकी मेम्बर हो गई है। राजा साहब से खदान छीन कर बिहार सरकार के रिसेवर की हो गई है। पहले ही बहुत ठेकेदार थे। अब तो ठेकेदारों की भीड़ ही लग गई है। नए-नए प्लाटों में नई-नई पोखरियाँ खुलने लगी हैं। मज़दूरी बहुत कम है। पूरा परिवार मिल कर बारह घंटे खटता है, तब जाकर कहीं पुसाता है। अपना पेट काट कर ही मज़दूर कुछ पैसा घर भेज पाते हैं। कभी-कभार तो पैटी ठेकेदार मज़दूरों का पैसा मार कर भाग भी जाते हैं। हफ़्ते भर में 4-5 ट्रक माल (कोयला) बेचा और चलते बने बस! अब

मज़दूर खोजता फिरे मालिक को, उस भगौड़े ठेकेदार की बला से। मज़दूर बेचारा, थक-हार, झक मार किसी दूसरे ठेकेदार से हफ्ते का राशन उधार लेकर, उसके यहाँ खटने लग जाता है। उसकी कमाई से हफ्ते-दर-हफ्ते ठेकेदार से ली गई उधार राशि का सूद ही उतरता रहता है। नगद तो उसे अठन्नी-रूपल्ली से ज्यादा नहीं मिल पाता। भोर में जैसे ही 'सूझने' लगता है, तो कुछ बासी भात खा कर, कुछ देगची में साथ ले कर प्यारी अपने मातल शीतल को साथ लेती है और काम पर चल देती है। शीतल पीने के पानी की बजाय दारू ले कर खदान पर जाता है।

शीतल को जुए की लत भी लग गई है। वह प्यारी के लिए एक लाल पाड़ की साड़ी किन (खरीद) कर लाना चाहता है पर पैसा है कि जुट ही नहीं पाता। उसने जुआ खेलना शुरू कर दिया है। कभी एक हाथ ऐसा मारेगा कि अपनी प्यारी के लिए एक नहीं, दो-दो साड़ियाँ किन (खरीद) कर लाएगा, यही उम्मीद उसे जुए के लिए और भी ज्यादा उकसाती रहती है।

यूनियन में प्यारी की बहन सीता और सरस्वतिया लीडर बन गई हैं और प्यारी का भी भाव बढ़ गया है। उसे हरदम यह डर भी बना रहता है कि सीता और सरस्वतिया की उद्वंडता और नेतागिरी के चलते जाने कब ठेकेदार उसे काम से बैठा दे। साँझ को अँधेरा होने पर प्यारी घर लौटती है। बड़ा बेटा पैदा हुआ तो शीतल ने मुहल्ले भर को दारू पिलाई थी। बेटा उसी पर गया है। प्यारी सोचती थी, औलाद होगी तो शीतल सुधर जाएगा, पर शीतल में कोई फरक नहीं पड़ा।

शीतल के दूर के रिश्ते का भाई फागू भी कोलियरी में उसके साथ खटने आ गया है। फागू प्यारी के दंगल में है। प्यारी का बाप दंगल का सरदार है। दंगल के मज़दूरों की पूरी कमाई उसीके पास जमा होती है। हफ्ते-हफ्ते रात को धौड़े में बैठ कर बँटवारा होता है। ठीकेदार धौड़े में आ कर, खटाली और हाज़िरी के मुताबिक खटिया पर बैठ कर भुगतान कराता है। प्यारी के बाप का धौड़ा दूसरे धौड़ों से कुछ बड़ा है। वह सरदार है न, इसलिए उसी के चबूतरे पर भुगतान भी होता है। सरदार की लड़की होने के नाते मज़दूर उसे मान देते हैं। सभी दंगल वाले भी तो उसके गाँव के ही लोग हैं! प्यारी अब समझने लगी है कि उसका भुगतान कानून से नहीं होता। मुंशी उसकी हाज़िरी नहीं लगाता, इसलिए उसके पास अपने काम का कोई प्रमाण भी नहीं है। हाज़िरी

लगाने के लिए यूनियन लड़ रही है। प्यारी अब यूनियन की मीटिंग में जाती है। प्यारी घर में आ कर जब बेटे को गोदी में लेती है तो वह नारे बुदबुदा कर उसे सुलाती है।

‘मेरा नाम क्या है लिख कर दो।’ ‘मेरी पहचान क्या है लिख कर दो।’ ‘मेरा वेतन क्या है लिख कर दो।’ ‘मैं कौन हूँ लिख कर दो।’ वह बेटे को थपथपाते हुए बुदबुदाती है।

अब वह आगे बढ़ कर जुलूस में नारे भी लगाने लगी है। शीतल पीता जरूर है पर वह नारे खूब ज़ोर-ज़ोर से पूरे मन से लगाता है। जब से फागू आया है शीतल उसी के साथ रहता है। शीतल ने उसे अपना ‘सहिया’ (मित्र) बना लिया है। रजरप्पा जाकर, बकायदा रस्म अदा कर ‘सहिया’ बने हैं दोनों। दोनों ने समाज के बीच वफादारी की कसमें खाई हैं। ‘सहिया’ माँ-बाप, पति-पत्नी से भी ऊपर होता है। दोनों, माँ छिन्नमस्ता को भी जल चढ़ा आए हैं। दोनों एक-दूसरे के पाँव लग, गले मिल, ‘सरना’ (‘सखुआ’ के सात पेड़ वाला स्थान, आदिवासियों का पूजास्थल) पर भी हो आए हैं। दोनों में दो समानताएँ हैं कि वे दोनों घर के अकेले बेटे हैं और दोनों हमउम्र हैं। ‘सहिया’ लगाने की समानता की शर्त उन्होंने पूरी कर ली है।

फागू प्यारी को भौजी कहता है। आपस में उनका मज़ाक भी चलता है। अब प्यारी की एक जिम्मेवारी कम हो गई है। अंदर-बाहर फागू ही शीतल का ख्याल रखता है। प्यारी के जिम्मे अब उसे खाना खिलाना और रात को ‘सुताना’ (सुलाना) ही रह गया है। खटना तो उसका काम है ही। खदानें सरकारी हो गई हैं। प्यारी का नाम खाते में दर्ज था, इसलिए उसे कार्ड मिल गया है। फागू भी कार्ड पा गया, पर शीतल को कार्ड नहीं मिला। अब उसका काम दारू बनाना, दारू पीना और रात में जुआ खेलना भर रह गया है।

प्यारी की छोटी बहन सरस्वतिया जो लीडर थी, को भी काम नहीं मिला। उसकी लड़ाई अभी जारी है। वेतन वेज-बोर्ड से मिलता है पर लीड-लिफ्ट (चढ़ाई-ढुलाई) के लिए यूनियन लड़ रही है। प्यारी लड़ रही है, मज़दूर लड़ रहे हैं।

“पचास फिट से ज्यादा ढुलाई नहीं करेंगे, ज्यादा कहोगे तो जहाँ पचास फिट खत्म होगा वहीं कोयला या माटी-पाथर बीग (फेंक) देंगे। मनीजर साब जदि वहाँ तुम खड़ा रहेगा तो तुमरे ई सिर पर बीग (फेंक) देंगे सब माल।” प्यारी मैनेजर से कहने लगी है।

“बड़ी जबान चलाने लगी है प्यारी। पहले तो बोलती ही नहीं थी। कहाँ से सीख लिया सब?”

“पेट सिखावे है बाबू। हमारी गुप्ता मैय्या ने कहा है, लीड (लम्बाई) में कोयला 50 फुट, पत्थर-माटी 100 फुट से आगे और ऊँचाई में दस फुट से ऊपर नहीं चढ़ेगा। देखो हमनी सब तो 40-40 फुट चढ़ते हैं, 500-600 फुट ढोते हैं, तभी न हमरी सब की कमाई कितनी कम होत है। ठेकेदारी में रेट कमे था पर दुलाई भी तो कम थी। काहे देस के लूटो हो बाबू? जुगत लगावो, जुगाड़ बैठावो और कुछ ठीक से खदान चलावो, तब दुई जन के फ़ैदा होतै। हमरा पेट भी भरत, तोरा भी बचत! तुम सब पढ़े-लिखे बाबुअन से तो हमरे मलकट्टे (कोल-कटर) ज्यादा जानत हैं। जब से खदान सरकारी हुई रेट तो बढ़ गए पर जुगाड़ नहीं मिलत है। हाज़िरी तो पूरी मिलत है पर कमाई नहीं होत है। आप सब कहते हो मज़दूरा कोढ़िया है! काम नहीं करता। पर ऐसन बात ना है बाबू... कभी पूरा काम, पूरा जुगाड़ दे के तो देख!” प्यारी को प्रबन्धन का रवैया समझ नहीं आता।

वह सोचती, “भला कौन बुडबकाहा (बेवकूफ) मज़दूर होतै जो खटे के ना चाहेगा? परदेस में आइल हैं, तो क्या फाकामस्ती करे के? खटे खातिर ही आइल हैं न। काम दैके तो देखे? दुई टन माल चढ़ा देव! पर इहाँ जुगाड़ ही तो ना है। हाज़िरी, डीए तो मिल जाय है पर क्या पुसाएगा इससे (पूरा पड़ेगा)? घर में हाथ तंग ही रहत है।”

दारू अब ‘घरे-घर’ चुआनी शुरू हो गई है। ...शीतल का रोजगार भी अब मंदा पड़ने लगा है। सभी मज़दूर जिन्हें कार्ड नहीं मिला, कहीं रोड या बिल्डिंग में खटते हैं, नहीं तो नौकरी के इंतजार में हैं। महुआ के सीजन में महुआ चुआते हैं, बाकी समय में स्पिरिट मिला कर दारू बनाते हैं।

शुरू-शुरू में कभी-कभी जब यूनियन की तरफ से अमीर खाँ और मैं, जुआ और दारू बन्द करवाने निकलते थे, तो सभी मज़दूर ताश, दारू और महुआ जहाँ का तहाँ छोड़-छोड़ कर भागते थे। पर कहते हैं, आवश्यकता आविष्कार की जननी है। अब लोग जंगल में ही जा कर दारू बनाने लगे हैं। यूनियन के डर से जुआ भी वहीं खेलने लगे हैं। सरकारीकरण के बाद से तो कलाली की दुकान केदला में ही खुल गई है। बस सब तरफ दारू का राज हो रहा है। अब यूनियन भी कई हो

गई हैं। पहले एक ही यूनियन थी। पैसा भी आगे से ज्यादा मिलता है। इसलिए वेतन के दिन तो दारू, खस्सी और जुआ खूब चलता है। पहले की तरह ही शनिवार से सोमवार तक सब नशे में रहते हैं पर अब कभी-कभी अपना हिस्सा बँधाने के लिए पुलिस या दारू का महकमा भी छापामारी करने लगा है।

आज कमाई नहीं हुई शीतल की। पुलिस छपा मार कर दारू का सामान बाजार से ले गई। उसे भी दो डंडा लगाया। यह तो शुकुर है कि फागू उसे ले भागा, नहीं तो एक्साइज वालों से रामगढ़ जा कर छुड़ाना पड़ता। फिर छुड़ाने में पाँच सौ रुपया घूस देनी पड़ती। उस रोज़ रात में शीतल ने फागू के साथ जुआ खेलना शुरू किया। रोकने पर भी वह नहीं रुका। बाजी में वह अपना झोपड़ा ही हार गया। जब वह अपना गैंता और सन्दूक भी हार गया तो फागू उठ गया। शीतल ने उसे हाथ खींच कर बैठा लिया। अब वह दाँव में क्या लगाएगा? उसके पास दाँव लगाने को भी तो कुछ नहीं बचा था। इस खेल को देखने के लिए धौड़े भर के लोग जमा हो गए थे। क्या करेगा शीतल लोग साँस रोके देख रहे थे? औरतें खाना बनाने में मशगूल थीं। बस आव देखा न ताव, शीतल ने प्यारी को ही दाँव पर लगा दिया। फागू ने रोका पर दूसरों ने शीतल को ताव पर चढ़ा दिया। कुछ मज़दूर मुँह मोड़ कर हँसने लगे और कुछ भारी हादसे की सम्भावना से हदस गए।

“हमर बात का मोल है ‘सहिया’! आपन सहिया का मन भी देख। सब हार देवै (ढूँगा) पर बात नाय हारब (हारूँगा)।” फागू के हिचकने पर शीतल ने उसे टोकते हुए कहा।

आखिर प्यारी को भी हार गया शीतल। भीड़ खिसक गई। फागू बिना अपना हक जताए उठ कर धौड़े में चला गया। शीतल चुपचाप उठा। प्यारी बाहर चबूतरे पर बैठी गप्पें हाँक रही थी।

“चल उठ प्यारी। हम तो जाही (जाएँगे)। अब तू आईज (आज) से फागू के महरारू (पत्नी) हो गेल। हम हार गेलय तोर (तुम्हें)। बचवा (बच्चा) भी तू ही रख। हम आपन ठिकाना खोईज (खोज) लेब।”

प्यारी को लगा कि उसे दारू चढ़ गई है। मज़ाक कर रहा है।

“काहे? हमनी की तोर ज़मीन-जैदाद ही कि दाँव पर लगा देलके या तियन-तरकारी ही (सब्जी/भाजी) कि बेच देलके? तोर कहे पर की हम फागू के मरद बनायब? इह नाय होतै (नहीं होगा)।”

फागू जो पीछे-पीछे आ गया था, कुछ गड़बड़ की सम्भावना जान कर बोला “जाए दे शीतल ऐसा तो होत रहत है। भला तोर मैहरारू (पत्नी) के कैसे राखब हम? जुआ तो खेल ही है न! जो कुछ भी हुआ है, मज़ाक मानो। जा, जा के सो जा।”

शीतल गुस्से में आ गया, “ई हमर जबान का मामला है सहिया।”

“प्यारी! तोर के जाये होते इकरे (इसके) संग।” प्यारी को सम्बोधित करते हुए वह बोला।

“हम नाय जायब।” प्यारी चिल्लाई। सब धौड़े वाले बच्चों-औरतों सहित जमा हो गए और शीतल को दूंसने लगे। प्यारी का बाप फरसा ले आया।

“अभीये मायर (मार) देव सरवा (साले) के, जे हमरी बेटी के दाँव पर लगौले है।”

प्यारी ने बाप को चुप कराया। वह शीतल को अन्दर ले गई।

शीतल को प्यारी की नाक बहुत अच्छी लगती थी। सब घरवालों से फरक अपनी सुग्गे जैसी नाक पर प्यारी को भी गुमान था। शीतल बहुत प्यार में आता, तो प्यारी की नाक पकड़ कर ‘चीप’ (दबा) देता। प्यारी भी मनुहार से ‘ऊंह’ कह कर सिर झटक देती। शीतल सोच रहा था ‘यह नाक ही है न जिसका उसे घमँड है, कि वह उसकी बात नहीं मानती।’ उसने प्यारी की नाक को ऐसे छुआ जैसे वह मुर्गी की मुंडी पकड़ रहा हो। प्यारी ने प्यार से भर कर उसे देखा और कुंडी बन्द कर ली।

आधी रात के समय प्यारी के धौड़े (झोंपड़े) से एक चीख उठी। प्यारी की चीख सुन कर लोग दौड़े आए। कोई चुपके से बाहर निकल कर चला जा रहा था। प्यारी खून से लथपथ मुँह पर हाथ रखे, चीख रही थी।

“हाय रे! कैसन नासपीटा हमर बेटी के इह दुर्दशा करले है? नाक काट देले (क्षी) रे! सुग्गा जैसन नाक हमर बेटी के।” चिल्ला उठी प्यारी की माय सुमित्रा।

सबको समझते देर न लगी कि यह शीतल का ही काम था। वह धौड़े में नहीं था। चुपचाप खिसक गया था। सब पुलिस में जाकर खबर करने की राय दे रहे थे।

“नाय, थाना पुलिस नाय। हमर कपार में जे हौले से भैले (हो गया)।” प्यारी ने कहा।

लोग घाटो जाने को उतावले थे। वह जानती थी शीतल रास्ते में ही

पकड़ा जाएगा। उसने अपनी कसम दे कर बाप को रोक दिया। फागू अपने को दोषी मानकर अवाक् खड़ा था। वह धीरे-धीरे प्यारी की तरफ बढ़ा।

“मन छोट नाय करा भौजी। चला अभी राँची अस्पताल लेले चलहियो। हम तोर दूसर नाक बनवाय के लगवाय देब। हम अपन ‘सहिया’ के बदल दंड भोगे ले तैयार हियो (हूँ)।”

प्यारी ने दर्द से बेहोश होने से पहले फागू को अविश्वास भरी नज़रों से देखा! मर्द-जात पर जैसे उसका विश्वास ही उठ गया हो।

फागू उसे राँची ले गया।

प्यारी घर लौट आई है। राँची जा कर फागू ने उसकी दूसरी नाक लगवा दी। शीतल फिर लौट कर नहीं आया। अपने गाँव भी नहीं गया। अब प्यारी फागू के पास रहने लगी है। कोलियरी में दोनों खटते हैं। बड़ा बेटा भी जवान हो रहा है। फागू से प्यारी को बेटा-बेटी हुए। लेकिन प्यारी के मन में मर्द के प्रति एक घृणा-सी बैठ गई है। वह अब कोलियरी में जा कर ज्यादा समय यूनियन में देती है।

आखिर उसे जिन्स (बस्तु) ही समझा था न शीतल ने! वह कमाती है। बराबर का खटती है, बल्कि मर्द से ज्यादा ही खटती है, फिर उसे दौंव पर लगाने वाला शीतल कौन था? उसका पति ही क्यों न हो, उसे क्या हक था अपनी ‘जबान’ रखने के लिए उसे ‘झोंकने’ का। वह अन्दर ही अन्दर बहस करती रहती। अब वह फागू के साथ काम करती है चूँकि उसने उसके दुःख के दिनों में बहुत सेवा की। उसका टट्टी-पेशाब तक ‘सँभारा’ (सँभाला) है। पर है तो वह भी मर्द ही न! कभी इसका भी मन पलट जाए तो? इसलिए वह खदान में दूसरे मज़दूरों की समस्याओं को ले कर मैनेजर-मुंशी से बहस करती है, तो उसे अच्छा लगता है। मज़दूर भी उसका लोहा मानने लगे हैं। वह भी सीता की तरह लीडर बन गई है। चुप रहने वाली प्यारी नाक कटने की घटना के बाद अब चुप नहीं बल्कि बड़बोली हो गई है। वह नापी के वक्त खदान में खड़ी रहती है और सबका पूरा हिसाब रखती है। भुगतान के समय भी चौकस रहती है। वह किसी मुंशी को मज़दूरों का एक पैसा भी मारने नहीं देती, इसलिए उसे भुगतान-स्थल से हटाने की गर्ज से मुंशी उसका भुगतान पहले कर देते हैं।

अब वह पहले की तरह सारी कमाई मर्द को ला कर नहीं देती। वह अब सब पैसा अपने पास रखती है। मर्द को जब खर्च देती है। खटने में दोनों माहिर हैं। जानती है ज़िन्दगी में खटना है। उसे तो बस कोयला ही बोझना है पर अपने हक की रक्षा खुद ही करनी है। हक के लिए खुद लड़ना है। अब वह अपने आपको विश्वास के आधार पर किसी को सौंप कर निश्चिन्त नहीं रहती। वह परखना सीख गई है। पति-बेटा, भाई-बाप, ये सारे रिश्ते अब उसे प्रभावित नहीं करते। केवल मेहनत, वह भी अपने हाथ की मेहनत और स्वयं दूसरों को अपने साथ ले कर खटने और लड़ने की क्षमता ही उसे आकर्षित करती है। इसलिए हड़ताल हो या प्रदर्शन, पी.ओ. का घेराव हो या जी.एम. का, पुलिस के मुँह लगना हो या मैनेजर के, वह सब से आगे रहती है। शायद वह अपनी नाक का बदला, अपने को जुए के दाँव पर लगाने का प्रतिशोध, हक की लड़ाई लड़के लेती है! शायद वह अन्याय का विरोध करके, दूसरों के लिए खुद जोखिम उठा कर, अपने साथ किए गए अन्याय का प्रतिरोध करती है।

खुश रहो

“भाग रे वकील, भाग! उठ रे उठ! आइग (आग) लगाय देलके सब बाबू लोग। भाग रे भाग! ऐ सोधना! बचावा रे इकरा! उठाय के ले चला! बचावा रे बचावा!” वकील की माँ चिल्ला रही थी।

वकील जग तो गया था पर घर में लगी आग देख कर इतना डर गया था कि उसके पाँव मन-मन भर के हो गए थे। एक ‘डेग’ (डग) न भर पा रहा था वह। वह खटिया से उठा पर फिर ‘बाप रे बाप’ कहकर धड़ाम से गिर गया। वकील की माँ उसे घसीटती हुई घर के बाहर लाने की कोशिश कर रही थी। लपटें बढ़ी आ रही थीं। हाल ही में छाये खपरैलों के घर की छत की बाँस-बल्लियों में आग धधक उठी थी। लकड़ी के बड़े रोलों को आग पकड़ते कितनी देर लगेगी और छत भरभराकर दोनों माय-बेटा पर आ गिरेगी? वकील की माँ इस खतरे को भाँप गई थी, इसलिए वह हड़बड़ा कर निकल जाना चाहती थी।

‘दौड़ो रे दौड़ो’ की आवाज़ पूरे टोले में दौड़ रही थी।

“मोर घर में भी आइग (आग) लगाय देलके है ऊ सबनी (वे सब), पन (पर) में आ रहल हूँ, तू चिन्ता मत नी कर!” सोधना चिल्लाया।

वकील की माँ वकील को घसीट कर घर की चौखट तक ले आई थी। सोधना ने खींच कर उसे खुले आकाश के नीचे सड़क के बीच बिठा दिया और आग बुझाने के प्रयास में लग गया। वकील की माँ कुएँ से पानी भर-भर कर ला रही थी। सारा टोला धू-धू कर जल रहा था। चीख-पुकार मची थी। लोग आग बुझाने और सामान बचाने में व्यस्त थे। सामान क्या था आखिर? एक-आध लकड़ी या टीन का बक्सा, जो

लोडिंग के पैसे से सिरका बाजार की हाट में हाल ही में खरीदा था। एल्युमिनियम के बर्तन, जो मिट्टी की हँडिया की जगह आ गए थे। जवान लड़के इसी साल कोयला लोडिंग की कमाई से खरीदी अपनी जीन्स-बुशर्ट बचाने की फ़िराक़ में थे, जिन्हें पहन कर वे अपने गाँव में हीरो बने घूमते थे। एक-आध के घर में तमंचा भी था। कुछ लोग चूल्हे के पीछे छिपाकर रखे हथियार भी निकाल रहे थे।

पर इस बचाने और बुझाने के क्रम में उन सबका गुस्सा भी आग की लपटों की तरह भभक रहा था। मौका मिलते ही भस्म करने का संकल्प उनके मन में उमड़-धुमड़ रहा था। वकील की माँ गाँव की सयानी औरतों में मानी जाती थी। सर्दी की उस रात में घर से बाहर जलते हुए घरों की लपटों के ताप में भी उनके दाँत बज रहे थे, ठंड से, भय से, या गुस्से से? शायद तीनों से। अपना घर जलने पर जो लपटें उठती हैं, उनकी जलन शायद इतनी ठंडी होती है कि दाँत बजने लगते हैं।

लगभग डेढ़ सौ लोग बेघर हो गए थे। बच्चों और औरतों का समूह असुरक्षित महसूस कर रहा था। रात को वे लोग फिर से उनपर जानलेवा हमला कर सकते हैं इसी आशंका से वे सभी गाँव छोड़कर मदद माँगने हेतु विधायिका जी को मिलने हजारीबाग के लिए चल पड़े थे। उन दिनों वकील विधायिका जी के यहाँ रह कर ही पढ़ रहा था। कुछ काम से घर आया हुआ था, तभी यह हादसा हुआ। विधायिका जी विस्थापितों का मामला ले कर दिल्ली गई हुई थीं। वह उस क्षेत्र के दलितों, आदिवासियों, मज़दूरों, किसानों के लिए आन्दोलन करती रही थीं, इसलिए उनके क्षेत्र के मज़दूर-किसान या दलित-आदिवासी मुसीबत पड़ने पर उन्हीं के यहाँ दौड़े-दौड़े चले आते थे। उनके कार्यालय के लोगों ने उन्हें दिल्ली में टेलीफोन से सब सूचना दे दी थी। वहीं से उन्होंने इन लोगों की सहायता के लिए अपने स्टाफ को कुछ हिदायतें भी दी थीं। उन्होंने दिल्ली से ही प्रशासन को भी फोन पर कार्रवाई करने के लिए कह दिया था। उनके ऑफिस के लोगों ने उपायुक्त और एस.पी. के पास सभी को ले जाकर विरोध प्रदर्शन भी करवा दिया था। घायलों को अस्पताल में भर्ती करवा कर, केस भी दायर हो चुका था, लेकिन लोग उपायुक्त और एस.पी. एवं विधायिका जी को साथ लिए बिना घर लौटने को तैयार नहीं थे। वकील की माँ बेचैन थी। वह कल सबरे की घटना को रात की

अगलगगी से जोड़ रही थी। उसके कानों में बार-बार बाबू सुन्दर सिंह की धमकी गूँज रही थी।

“वकील की माँ! वकील की माँ”, बाबू सुन्दर सिंह ज़र्मीदार उसके दलान में घुस आया था। वकील उसी दिन हजारीबाग से लौटा था। वह किताब में से पढ़-पढ़ कर माँ को कुछ सुना रहा था।

“का है बाबू?” वकील की माँ ने खटिया पर बैठे-बैठे ही जवाब दिया। वकील के बापू ने पहले की तरह बाबू साहब को देखते ही खटिया से उठकर, खड़े-खड़े ही सलाम नहीं ठोंका था। वकील ने भी बाबू साहब के पाँव छूने के लिए झुकने की कोशिश नहीं की थी।

“अच्छा तो तुम लोग इहाँ (यहाँ) तक पहुँच गए हो? खटिया पर बैठे-बैठे बतियाते हो? खपड़े का घर क्या छान लिया कि हमरी बरोबरी करे लगे हो। लौंडा के स्कूल पढ़ा के कलक्टर बनाएगी क्या री चमाइन! आखिर तो हमरा दिया ही खाती हो, बच्चे ही तो जनाओगी न हमरे घरों में। हमराई खेत जोतेगा न तेरा बेटा भी! इतना गुमान मत पाल। लोडिंग की कमाई ज्यादा दिन नाय चलत।” उस समय तो इतना कहकर वह पाँव पटकता हुआ लौट गया। कुछ देर बाद ही टोले में दस-बीस लाठीधारी बाबू साहब लोग आ धमके थे।

“केने है इनकर (इनका) लीडर। आज हम उकरा मज़ा चखाय देब। अपनी औकात में रहो। जीन-शर्ट पींध (पहन) के, सर पर टोपी धर के हीरो बनत हो। अब सबके हीरोगिरी निकाल देब। आज ठंडा कर देब सरबन (सालों) के, ते भुलाय जैते हीरोगिरी और लोडिंग की सब कमाई!” बाबू सुन्दर सिंह का छोटा भाई कड़क कर बोला।

गाँव के लड़के भी तन गए। अपने लड़कों को तना देख, वकील की माँ की बोली पिपही से नगाड़ा बन गई।

हुंकारकर बोली “का बाबू साहब, कि हमनी तोर खरीदल गुलाम हय। अरे खपड़ा आपन कमाई से छनाया है। जीन्स-पैंट खट के पींधा (पहना) है। तोर करेजा में काहे सूल उठत है?”

पास खड़े बाबू जीतन सिंह से न रहा गया। उसने सामने खड़े सोधना को एक लाठी दे मारी। जवान-जवान लड़कों को वे थप्पड़-घूँसे से पीटने लगे। बूढ़ों पर जूता चला दिया। अपने संस्कार और स्वभाववश टोले के बूढ़े हाथ जोड़-जोड़ कर गुहार लगाने लगे “छोड़ दे बाबू! छोड़

दे! बाबू माफ कर दे, गलती हो गेल छोड़वन से!” धिधियाने लगे बूढ़े-बुजुर्ग।

औरत-बच्चे घर में चिल्लाने लगे। पर पहले के उलट लड़के थप्पड़ खा कर भी तने रहे। फुँफकारते रहे, गुराते रहे, न चीखे, न चिल्लाए। जिससे ज्यादा नहीं सहा गया, वह वहाँ से गुराता हुआ हट गया।

इस बार दुर्गा पूजा में भी चमरटोली ने बाबू साहबों को चन्दा नहीं दिया था। चमरटोली ने अपनी पूजा खुद मनाई थी। दुर्गाजी की मूर्ति भी चन्दा करके अपने ही किन (खरीद) लाए थे। परसादी भी बाँटा था। इस बार गाँव में दो जगह मूर्ति स्थापित हुई थी। बाबू साहब की मूर्ति से ज्यादा भव्य मूर्ति थी ‘चमरटोली’ की। कैसे कैसे ‘हीरो जैसन’ जीन पहन के, टोपी लगाए लड़के और टैरीकॉट की साड़ियाँ पहन कर चमारों-दुसाधों की औरतें मूर्ति देखने आई थीं। अच्छा कपड़ा पहन कर भेद ही भिट गया था ऊँच-नीच में। कई तो बाबुओं की बहू-बेटियों की तरह गोरी-चिट्ठी भी थीं।

“आखिर यह सब हैं तो नीच जात ही न। कैसे हमारी बरोबरी की हिम्मत करते हैं ये लोग?” बाबू साहबों के मन को यही प्रश्न बाँध रहा था।

ये सभी बदलाव पिछले साल, तभी से हुए, जब से सिरका में कोयले की लोडिंग चालू हुई। एक-एक मज़दूर दिन भर में तीस-चालीस रुपया कमा लेता। बाबू साहब तो केवल मुंशीगिरी ही कर सकते हैं, भला वे लोडिंग कैसे करें? उनके खेतों में यही लोग तो हल जोतते हैं, रोपनी और कटनी करते हैं। आजकल खाद-बीज भी बहुत महँगा हो गया है। खेती में तो कुछ बचता ही नहीं! पर इससे क्या? ‘बाबू लोगन’ के पास पुश्तैनी घमंड, अहंकार और हेकड़ी की भरपूर विरासत तो है ही न! फिर लाठी-बन्दूक की भी तो कोई कमी नहीं है। उनके टोले में बीस-बाईस तो लाइसेंसी बन्दूकें हैं। मज़ाल है कोई कुसक जाए। इधर बाबू साहबों के घरों के कुछ लड़के, जो पहले बर्ड कम्पनी में पेटी-ठेकेदार होते थे, कोलियरियों का राष्ट्रीयकरण होने पर कोयला कंपनी में पक्की नौकरी पा गए थे। अब तो वे ही यूनियन के लीडर भी बन गए हैं। उन्हीं लोगों ने गाँव के चमार-दुसाध टोले के बेरोजगार लोगों और साथ-साथ अपने भाई-भतीजों को भी लोडिंग में लगा दिया। जहाँ गाँव के गरीब-गुरबा, आदिवासी और दलित लोडिंग का काम करते थे, वहीं इनके भाई-भतीजे

मुंशी का काम करने लगे और वे ट्रक वालों से लोडिंग करवाने के बदले भारी कमीशन लेने लगे। बिना खटे ही वे लड़के एक ट्रक पर पचास रुपया पाते थे। दस-बारह लड़के मिलकर डेढ़-दो सौ ट्रकों का कमीशन बाँट लेते थे। उधर मज़दूर, जो खेती में आधा किलो सत्तू पर दिन भर खटता था, अब तीस-चालीस रुपया रोज कमाने लगा था, इसलिए उसका रहन-सहन कुछ बेहतर हो गया था। सोच भी बदल गई। वे एकता का अर्थ भी समझने लगे थे। बाबू साहबों के दस-बारह लड़के इन्हीं मज़दूरों की बदौलत ट्रक वालों से रंगदारी वसूलते हैं, इसलिए अपने गाँव की पुश्तैनी परम्परा से हटकर वे चमारों का साथ देने लगे। दोनों दलों में कुछ स्वार्थ और कुछ उमर की दोस्ती हो गई है।

जीतन बाबू का बेटा घर छोड़कर सिरका में रहने लगा है। वह चमारों का साथ देता है। शुरू-शुरू में गिद्दी से एक नक्सली नेता रोज उससे मिलने गाँव आता था, बाद में वह लड़का ही नक्सलियों का नेता बन गया।

सो जब दस-बारह लठैतों ने तड़ातड़ मारना शुरू किया तो वकील की माँ जो लोडिंग करने भी जाती थी, कड़की “क्या देखते हो। काहे खाएँगे इनकर (इनसे) मार। हमरे हाथ-गोड़ (हाथ-पाँव) नाय हैं की?” और उसने एक बड़ा-सा पत्थर उठाकर लठैतों की तरफ फेंका।

फिर क्या था, पत्थरों की वर्षा शुरू हो गई। लड़कों का भी मन बढ गया। यह पहला मौका था। पहले वे कभी बाबू लोगों के मुँह लगने की बात सोच भी नहीं सकते थे। पत्थर तो क्या, वे उनकी ओर कभी एक शब्द भी न फेंक पाए थे। वे चुपचाप गालियाँ बनकर निकलते उनके शब्दों की मार खाते रहते थे वे सिर झुकाकर सहते थे तड़ातड़ जूतों की मार। उनके पेट सदा भूखे रहते थे। यह ‘बड़कन’ लोग उन्हें जीने भर थोड़ा-सा अनाज देकर, उनका पेट अपनी गालियों से भर देते थे। चमरटोली के लोग गाली को गोया प्रसाद मान कर स्वीकारने और सारी उपेक्षा व अपमान को पिछले जन्म का फल मान कर भोगने में ही सन्तुष्ट थे। इन्होंने सदा नफ रत की निगाहें देखी थीं, कभी खुद किसी से नफ रत नहीं की थी। जबसे सिरका में लोडिंग से सिलसिलेवार कमाई होने लगी और इनकी यूनियन बन गई, तब इन्हें जमात बन कर रहने और एकता की समझ आई और इनमें अपने हक का अहसास भी जगा। तब से इन्होंने अन्यायी से नफरत करना भी सीखा।

वकील की माँ के मन में उस समय एक मज़दूर का अहम् जन्मा। आत्मसम्मान की ताज़गी और नमी लेकर अहम् के अहसास का अंकुर फूटा और धरती पर तन कर खड़ा हो इतरा उठा। वकील की माँ सद्य-जन्मे बच्चे की तीव्र रुलाई की आवाज़ में चिल्लाए जा रही थी “क्यों मार खाएँगे हम लोग? कोई कर्ज खाया है क्या? कर्ज भी खाया है तो चुका देंगे पर नहीं खाएँगे मार! मारो हो, मारो! हम कोई मौगा हैं क्या?” इंसान होने का अहसास रंग ला रहा था।

फिर तो चारों तरफ से मारकाट की आवाज़ आनी शुरू हो गई। बढ़ती भीड़ और उनकी हिम्मत देखकर लठैत हतप्रभ हो गए। वे भाग खड़े हुए।

लठैत भाग तो गए पर पूरी की पूरी ‘चमरटोली’ के सर पर खतरे की तलवार लटक गई। गाँव में शंका की दीवार खड़ी हो गई। एक रेखा खिंच गई। सदियों की जकड़न टूटी थी न! पुश्तों का लिहाज़ दरका था। वे चमार-दुसाध नहीं हैं अब, वे तो आदमी हैं। खटने वाले आदमी। यह अहसास उनमें जगा था। वे भी मार कर भगा सकते हैं ‘बाबुओं’ को। यह विश्वास जगा था। आखिर ‘बाबुओं’ की आपसी लड़ाई में भी तो एक-न-एक तरफ से वे ही मार करने को ले जाए जाते रहे हैं न! उन्हें अपनी शक्ति का अहसास हो रहा था।

उसी दिन बाबुओं के मन में एक खुन्दक घर कर गई। उसी रात अगलगी की यह घटना घटी। वकील की माँ बयान में लिखाने के लिए एक-एक का नाम याद कर रही थी।

विधायिका जी दिल्ली से अगले दिन लौट आई थीं। वकील की माँ ने उन्हें सब कह सुनाया।

“आज ही तुम लोग अपने गाँव वापिस चले जाओ। बाबू साहबों को उन्हीं के गाँव में रहकर ही सबक सिखाना होगा न। थाना पुलिस तो मैं देख लूँगी पर असली सबक तो उन्हें गाँव में रहकर ही सिखाया जाएगा! गाँव से भागकर उनका मुकाबला नहीं हो सकता। थाना पुलिस तुम लोगों की कै दिन रक्षा करेगी? तुम खुद ही थानेदार बनो। जाओ! जाकर गाँव में डटो और सबको जुटाओ।”

सब लोग गाँव लौट गए। विधायिका जी घटनास्थल के निरीक्षण के लिए एस.पी., डी.सी. को भी गाँव में ले आईं। एस.पी. ने अपराधियों को

चौबीस घंटे के अन्दर सरेंडर करने का ऐलान किया और घोषणा कर दी कि सरेंडर न करने वालों के घरों को डोजर से गिरा दिया जाएगा या उनकी कुर्की-जब्ती कर दी जाएगी। कुछ लोग तुरन्त ही वहीं पर आकर विधायिका जी के सामने ही हाजिर हो गए।

दरअसल स्थानीय थाना एवं प्रशासन ने बाबू साहबों से साँठ-गाँठ कर ली थी। हालाँकि दारोगा हरिजन था। इस ऐलान ने थाने के सभी अधिकारियों और बाबूओं की सिट्टी-पिट्टी गुम कर दी। दारोगाजी ने ही सभी बाबू साहबों को थाना में बुला कर समझाया।

“अब हमारे वश में नहीं है। एसेम्बली में क्वेश्चन हो जाएगा। हमारी नौकरी चली जाएगी। हाजिर हो जाओ। हमें तो आप सभी को हथकड़ी लगाकर बाजार में घुमाने का आदेश मिला है।” कई बाबू साहब लोग हाजिर हुए। उन सबकी बन्दूकें जब्त करके, उन्हें हजारीबाग जेल भेज दिया गया।

वकील की माँ की नज़र में जो कुछ प्रशासन ने किया वह काफ़ी नहीं था। उसे लग रहा था कि बाबूओं को रास्ते पर लाने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। उसने गाँव को एकजुट करके सलाह करने हेतु अपने टोले वालों की एक मीटिंग बुलाई। सब जुटे।

“ठीके है, विधायिका जी की मदद से निकम्मा थाना-पुलिस भी हमरी मदद कर देल। ऊ सब भी जेल मा बन्द भय गेल। बन्दूकें भी जब्त हो गेल। पन अभी हमनी के आपन ताकत बढ़ाय के जरूरी है। ऊ सब के सामाजिक दंड दिए बिना ऊ सुधरे वाला नाय है। ऐही (इसी) खातर हम ई मीटिंग बुलेली (बुलाई) है। तोहनी सब विचार कर राय देब, तो ओही (वही) सजा उन सब के दियल जाय।”

“ऊ सब के खेत हमनी आज से नाय जोतब, हमनी बेगारी नाय करब!” लड़के-बूढ़े चिल्लाए।

सोधना की ‘महरारू’ (पत्नी) जो अभी तक चुपचाप सुन रही थी जिसे बाबू साहब के घर जाने पर उनलोगों की कुटिल नज़रों का दंश, इसलिए बराबर झेलना पड़ता था क्योंकि वह सुन्दर थी, बोली “हमन ऊ सब के घर नाय जाब तो कैसने (कैसे) उन सब की महरारू और बेटी-पुतोहू बच्चा जनतै (जनेगी)? हमनी आइज (आज) से ही ऊ सब के घर जाय के या दाई का काम करे के बन्द कर देब। बाकी सभै (सभी) जात के घर जायब, पन बाबू लोगन के टोला नाय जायब।”

सारा टोला इस अप्रत्याशित सुझाव से दंग था। लड़कों ने ताली बजाकर अपनी खुशी जाहिर की। बूढ़ों ने आँखें झुकाकर सोधना की औरत को आशीर्वाद दिया। पूरे टोले के लोगों ने उसके सुझाव का समर्थन किया।

फैसला हुआ “चमारटोला की कोई औरत आज से बाबू साहब के घर बच्चा ‘जनाने’ नहीं जाएगी। कोई भी मर्द या औरत बाबू साहब के खेत में नहीं खटेगा। काम नहीं मिलेगा तो हजारीबाग, पटना, कलकत्ता चला जाएगा, वहाँ रिक्शा चलाएगा, बर्तन मसेगा (माँजेगा) पर बाबू साब के खेत पर नहीं चढ़ेगा। शहर में गाँव की माफिक छूतछात नाय है। फिर उहाँ (वहाँ) हमर जात कौन जानत है? बाबू साहबन के कोइयो (कोई भी) काम नाय होवे के चाही।”

इन्होंने भी अब घृणा करना सीख लिया था। इनके मानस में अब घृणा के साथ-साथ बदले की भावना भी जन्म गई थी। इस घृणा ने उनकी सदियों से मृत देह में प्राण फूँक दिए थे। चमार-दुसाध टोले की पंचायतों का फैसला हो गया। बाकी जात वाले, कोयरी, मियाँ, साव टोलों में भी चमारटोली के बूढ़े-बुजुर्ग पंचों ने जाकर खबर कर दी थी।

“हमरी तोहनी सब के साथ कोई लड़ाई नाय है, पन तोहनी सब ई अन्याय के खिलाफ हमरा साथ दो।”

कुछ टोले इनसे सहमत रहे, कुछ तटस्थ रहे। बाबू साहबों के आतंक से किसी न किसी ढंग से सभी पीड़ित थे। किसी ने बाबुओं का साथ नहीं दिया।

उस साल बाबू साहब के खेत परती ही रह गए। वह अपने से खेत कैसे जोतें? जोतेंगे तो जात से बाहर कर दिए जाएँगे। बेटी का विवाह किसी बढ़िया राजपूत घराने में नहीं हो पाएगा। चमाइनें भी बच्चा ‘जनाने’ उनके घर नहीं आने लगीं, तो बाबुओं की एक और समस्या बढ़ गई। गाँव में कोई और जात की दाई होती ही नहीं। उन दिनों गाँव में कोई अस्पताल या सबसेंटर भी नहीं था। ले दे के एकमात्र अस्पताल हजारीबाग में था। दर्द उठने पर ट्रैकर (आठ सीट वाली जीप-नुमा अम्बेसडर गाड़ी) भाड़े पर कर कराके बेटी-बहू को हजारीबाग ले जाना पड़ता था। कइयों के तो खेत भी इसी में बन्धक रखा गए और कइयों को अपनी कुछ ज़मीन भी बेचनी पड़ी। साल भर पूरे गाँव में ऐसे ही तनातनी बनी रही। केस में भी चालीस लोग तीन महीने तक जेल में रहे। उनकी बड़ी

मुश्किल से जमानत हुई थी। उसमें हजारों रुपया वकीलों ने ठग लिया। कइ बाबू साहब तो कर्ज से लद गए। बाबू साहब लोग भीतर-ही-भीतर टूटने लगे थे पर बाहर से नारियल के खोल की तरह कड़क दिखना, उनके सदियों से पोसे हुए अहम् के लिए जरूरी था।

इधर चमार-दुसाध टोले भी टस से मस नहीं हुए। वकील की माँ का सबेरे-शाम भाषण जारी रहता। वह घर-घर जाकर हजारीबाग और कोर्ट की खबरें पहुँचाती रहतीं। वह जब चटखारे लेकर, बाबू लोगों पर क्या बीत रही है बतलाती, तो दुःख देने वालों के दुःख की बात सुनकर लोगों की आँखों में चमक आ जाती। यह अहसास कि वे भी जालिमों को दुःख भोगने को मजबूर कर सकते हैं, उनके लिए था तो नया, पर था बड़ा सुखदाई। फिर भी बाबुओं की औरतों को उनके द्वारा बच्चा न जनाए जाने के चलते, अस्पताल जाने की मुसीबत झेलते देख कर 'चमरटोले' की बूढ़ी औरतों का मन पसीज उठता था।

“ऊ बेटियन या बहुअन के का दोष है ई मा (इसमें)? ई तो सब मर्दवन के ही खुराफात रहल!” वे कह उठतीं! पर पंच का फैसला तो फैसला है। उसे बदला नहीं जा सकता। एकता को तोड़ना भी तो उन्हें किसी मुसीबत में डाल सकता है यह अहसास भी उन्हें अपने फैसले पर अडिग रखे हुए था।

दो बरस बीत गए। एक समय के धनी, सम्पन्न बाबू साहब टोले के बाबुओं में से अधिकांश अब तंगी का दंश झेलते नज़र आने लगे थे। कुछ लोग जात-बिरादरी की परवाह न करके अपना अहं छोड़ कर, खुद ही अपने खेतों में हल नादने लगे थे। पर यक्ष प्रश्न यह था कि उनकी बहू-बेटी खेत में कटनी-निकौनी कैसे करने जाए? यह सवाल हल नहीं हो सकता था। घर की बहू-बेटियों का मामला था। एक छद्म ही सही पर यह अहसास कि आखिर औरत से ही तो उनकी मर्यादा बँधी है इज्जत जुड़ी है उन्हें झुकने न देता था। हालांकि उनका यह अहसास सदियों से औरत के शोषण का एक अहम् कारण और कारक दोनों ही रहा है। इस बात को लेकर उनके टोले में भी सुगबुगाहट होने लगी थी। एक मीटिंग भी हुई थी।

“इस लड़ाई में तो हमनी ही बरबाद हो गेले। अच्छा होत कि हमनी सुलह कर लेब। जमाना पलट गेले है। अब पुरानी रीत नाय चलतै। किला जैसन घर है तो क्या? हो तो गेले खंडहर। देखो तो ऊ सबजन,

की रकम (कैसे) धकाधक पक्का-घर उठाय जात हैं? भले छोट ही सही, पर है तो पक्का! और हमनी के घर के टूटल (टूटा हुआ) पलस्तर मरम्मत कराय के जुगाड़ नाय है।”

सुलह करनी चाहिए यह तो सभी महसूस कर रहे थे, समझ रहे थे पर जबान पर कौन लाए यह बात? कौन पहल करे? सुलह की बात तो बाद में उठती। उस समय उनके लिए इसे अपने मुँह से कहना भी एक अहम् बात थी। घुमा-फिरा कर बात सभी करते थे कि दोनों का नाश हो रहा है पर...? यह ‘पर’ ही एक बड़ा सवाल था। सदियों की विरासत इस सवाल को उठाना भी हेय समझती थी! इसलिए सब बदतर ज़िन्दगी बसर करते रहे पर सुलह के लिए जबान पर बात नहीं ला सके।

समय बड़े-बड़े घाव भर देता है। आपस में जो राम-सलाम, दुआ-बन्दगी बन्द हो गई थी, वह लड़कों-बच्चों में धीरे-धीरे फिर चालू होने लगी थी। बूढ़े मौन हो गए थे। प्रौढ़ पीढ़ी ही दुविधा में थी ऊपर से वाचाल पर भीतर टूटी, डरी हुई असुरक्षित। जब आदमी भयभीत या असुरक्षित होता है तो ज्यादा बोलता है। वह बोल-बोल कर ही अपने को आश्वस्त करता रहता है और अपने अहम् को टोहता रहता है। ऐसे ही लोग सुलह में भी आड़े आते हैं। इन्हीं की मुँह पर बिरादरी टिकी होती है फिर भला कैसे झुक सकती थी इनकी मुँह?

अपनी ताकत और संख्या के बल पर अब कुछ चमार-दुसाध टोले के लड़के भी ट्रकवालों से कमीशन लेने लगे थे। उन्हें अपनी संख्या का ज्ञान हो गया था। इन्दु दुसाध और बलदेव ने तो कमीशन की कमाई से पक्का घर भी बनवा लिया था। बुधन और सोधन ने ट्रेकर खरीद लिए थे, जो रामगढ़-हजारीबाग रूट में चलने लगे थे। अब तो शादी-ब्याह में बाबू टोला वाले भी इन्हीं की गाड़ी बुक करते थे। जीतन बाबू को बेटी के ब्याह में ज़मीन बेचनी पड़ी थी, तो सबसे ज्यादा दाम बलदेव राम दुसाध देने को तैयार हुआ था। टोले वालों के कड़े विरोध के बावजूद बलदेव राम ने बाबू टोला के बीचो-बीच की ज़मीन खरीद ही ली थी। बलदेव का दो मंजिला मकान अब बाबू टोले में शान से, उनकी सामन्ती हेकड़ी और आर्यजातीय अहम् और दम्भ को मुँह चिढ़ाता खड़ा है।

सुलह की पहल करने के लिए, जबान न खोल पाने वाला गुमान, अपनी ज़मीन उन्हीं के पास बेचने पर मजबूर बन कर खड़ा इस

बदलाव को, भौंचक्क-सा देख रहा था। कहीं चुपचाप मन-ही-मन स्वीकार भी कर रहा था।

कोई-कोई तो कह देता 'समय के साथ बदलना पड़ेगा। यह कलियुग है। यहाँ 'मुड़ी' (सर) गिनी जाती है, जन्म नहीं। संख्या में ज्यादा 'मुड़ी' इन्हीं छोट-जात वालों के पास है। निखालिस जन्म या 'जात' लेकर अब क्या करेंगे हम? चाटेंगे क्या?' 'पिछला जन्म नहीं, अब इसी जन्म का जमाना है' कोई-कोई बुजुर्ग टोक देता। कुछ कलियुग का नाम लेकर अपने को सन्तोष देते रहते पर मन ही मन वे समझ गए थे कि अब राम या कृष्ण का वह युग या सतयुग नहीं लौटेगा, जहाँ जातीय अहम् की खातिर शम्बूक का सिर या एकलव्य का अँगूठा काट दिया जाए।

वकील कॉलेज में पढ़ने लगा था। वकील की माँ अभी भी लोडिंग करती है। अब, जब वह राजपूत टोले से गुजरती है, तो बहुत से बाबू लोग झुक कर कहते हैं 'परनाम नेताइनजी!'

'खुस रहो' कहती हुई वह आगे बढ़ जाती है।

जिन्दा रहने के लिए

पटना रॉंची एक्सप्रेस आज मुरी में रुकी तो रुकी ही रही। पता लगा एक पैसेंजर गाड़ी पटरी से उतर गई है, इसलिए रास्ता जाम है। गाड़ी लेट होगी। एक घंटे के बाद वहाँ से गाड़ी चली तो गौतमधारा स्टेशन पर आ रुकी। इसके बाद डी. एस. को ट्राली में जाकर घटना-स्थल का निरीक्षण कर वे मलवा हटवा और पटरी ठीक करवा के वापस आना था।

गौतमधारा पहाड़ियों और जंगलों से घिरा एक रेलवे स्टेशन है। घाटी के 'दोल' (गहराई) में बना है। पहाड़ से सीढ़ियाँ सीधे स्टेशन पर ही उतरती हैं। आदिवासी प्लेटफार्म के दोनों तरफ लकड़ी के बड़े-बड़े गट्ठर, बड़े-बड़े कुन्दे, बल्ले और तनों के गोलाकार टुकड़े खड़े रखे हुए थे। कुछ के पास कोयले के बोरे भी थे। आदिवासी बच्चे, बूढ़े व जवान, जनी व मरद सभी रेल के इन्तज़ार में थे। उस दिन पैसेंजर ट्रेन आई नहीं थी, इसलिए सभी एक्सप्रेस ट्रेन में ही चढ़ने की पूरी तैयारी में थे। जैसे ही गाड़ी रुकी, सब धड़ाधड़ कोयले के बोरे और लकड़ी गाड़ी में चढ़ाने लगे। बच्चे छोटे 'कट्टे' में कोयला लादे या लकड़ी का एक-एक रोला सिर पर रखे, बड़ों के साथ मेहनत की होड़ में, बाजी लगा रहे थे। औरतें सलीके से बँधी जंगली लकड़ियों का गट्ठर माथे पर लादे जहाँ-तहाँ गाड़ी में घुस रही थीं। बूढ़ी औरतें व बूढ़े मरद कोयले के बड़े बोरे लिए गाड़ी में सीटों के नीचे घुसा रहे थे या ट्रेन में लैट्रिन के बाहर बोरे पर बोरा सजाने की कोशिश कर रहे थे। जवान मरद बहँगी पर लकड़ियों के मोटे तने या कई रोलों (खूंटों) को बाँध कर

ढो रहे थे और गाड़ी के बफर पर या डिब्बों में अटाने के लिए जूझ रहे थे। कड़ियों ने तो गाड़ी में चढ़ने की सबसे नीची वाली एक सीढ़ी से दूसरे दरवाजे की सीढ़ी तक रोले बाँध दिए थे। बफर पर लकड़ियाँ सजाकर कुछ लोग उन्हीं पर बड़े मज़े से खड़े हो गए थे। यह सब आनन-फानन में, यानी गाड़ी प्लेटफार्म पर आकर खड़ी होने के पाँच-सात मिनट के अन्दर ही हो गया।

पर थोड़ी ही देर बाद टिकट कलेक्टर राइफलधारी पुलिस को साथ लेकर घूम-घूम कर उन सब को उतरवाने लगा।

“रोज़ तो आठ आना एक आदमी परती भरा ही लेवे हो, तो आइज काहे ले रोक रहल है? का खाय के जीयब हमनी सब?” एक बुढ़िया ने घिघियाते हुए कहा। कुछ लोग सवारियों को ही कोयले के कट्टे बेच कर उनसे पैसा ले चुके थे। दस-बीस लोग तो एक-एक रोला बेचकर नाश्ता-पानी का जुगाड़ बिठा लिए थे और कचौरी, पावरोटी या ‘बन’ लेकर खा रहे थे।

“घर मा चूल्हा कैसन जलतै (जलेगा) टीटी बाबू, सब-माल उतर जइबै तो? अपना हिस्सा भरा ले और छोड़ दे माल और फूट हेने (यहाँ) से।” तुनक कर एक जवान आदिवासी युवक बोला।

“आज नहीं बाबू, आज डी. एस. साहब इस गाड़ी से जा रहे हैं। हमर नौकरी चल जइतै।” टीटी बाबू नज़रें चुरा कर मिली-जुली भाषा में स्थिति की गम्भीरता को सहज करने-कराने की चेष्टा में, धीरे से बोला।

तब तक एक जवान औरत ने टी.टी. को बाँह पकड़ कर रोकते हुए कहा “देखाअ, मुँह-अँधेरे जंगल से लकड़ी काट-काट लायले (लाए) हैं। कसम से मुँहों (मुँह) भी न धोले हैं। तै रोकहीं तो हमनी सब के नान्ह-नान्ह गीदरबन (बच्चे) भूखल रह जैब। तोर पर श्राप पड़ी हम सबनी के। कम से कम महारारू के छोड़ दे। मरदवन दूसर गड़िया से चल आयब (आएगा)।”

“हतो सब चोरी करते हो और सीनाजोरी भी। चोरी का यह धन्धा हम लोग नहीं चलने देंगे। बिना टिकट चलते हो, बिना तोले माल ले जाते हो। कितना रेवेन्यू मार लेते हो रेल का, जानते हो? भागो सब। नहीं तो गोली चल जाएगी।” पुलिस के एक सिपाही ने डाँटते हुए कहा।

दरअसल बाहर से पुलिस की नई गार्ड आई थी। उसे अभी इस

धन्धे में हिस्सा नहीं मिला था।

“बड़ा आया गोली चलाए वाला। चलायके तो देख! हमनी सब तैयार हयी। हमनी सब के चोरवन कहत है और यह अपने सब सधुवन हैं। पेट पाले खातिर लकड़ी बोझ-बोझ के बेचल हैं। शरीर का कितना खून सूख जावे है लकड़ी काटे और बोझे में? ये बन्दूक जैसन तानिक-सी हलुक (हल्की) लकड़ी उठा-उठा घूमे वाला की जानतै?” एक महिला ने निडरता से सिपाही को कहा तो अगल-बगल खड़े सब लोग ठठा कर हँस दिए। उस ‘हलुक-सी लकड़ी’ का नाम बन्दूक है कितनों की जान ले सकती है वह। वे लोग उसकी मारक शक्ति को जान कर भी नकार कर ‘हलका’ कर दे रहे थे।

दूसरी महिला कमर कस कर हाथ नचा कर बोली “पेट पाले खातिर कियल (किया हुआ) काम चोरी न है बाबू। हम सब लकड़ी न काटब जंगल से, न जायब बाजार बेचबे खातर, कोलरी से चुप्पे-चुप्पे कोयला न बीछ के लाइब, तो की खइब? तोर मुंडी?” गाँव वालों ने ताली बजा दी।

बुढ़िया बोली, “टिकस (टिकट) का पैसा भरबै (भरने के) बाद हमनी पास की बचतै (बचेगा)? मिले ही कितनक (कितना) है बजरिया में? बड़-बड़ व्योपारी के तो सरकार न पूछे है? ट्रक के ट्रक रोज जंगल से लकड़ी चुरा के ले जैब है। तोर टेंट (गाँठ) गरम हो जैब तो तू भी मुँडी (सिर) घुमा लेबे है। हमनी सब पर तोहर खूब नज़र है। छः रुपये कोयले का कट्टा और दस रुपया एक रोला के भाव, सब माल हमनी बाजार में बीग देबे है। बारी-बारी तीन जन मिल के बहँगी में बोझा लावे हैं। बस मोट बीसे रुपया त हाथ लगे है। ओकरे पर पूरा परिवार पले है। आज के नागा हो जाई तो घर में सबै बाल-बुतरू (बच्चे) उपासे रह जायब। दया कर बाबू जायेदे।”

“देख टी.टी, बाबू ये पुलसिया के रोक दे। ज्यादा चर-चर करी तो अभिण्ड इन्कलाब बोल देब हमनी सब। नारा लग जइब। देख हमनी सब के डर नहीं खे। रेंजर-फरेस्टर मिल के हमनी सब के पिछले साल गाड़ी भर के जेल भेज देले। का बिगाड़ लेले हमार? तबै बन्द नाय कर सकले हमार यह लकड़ी के व्योपार। हमनी यह लकड़ी के धन्धा न करबै तो की खैबै? तोर पत्थर ढेला खाय के मन हो तो बोल, तुरैतै चल जैते पत्थल? फिर हमार के दोष न देबै के।” एक गरम मिजाज़

लीडरनुमा अधेड़ आदिवासी बोला।

“ना-ना गुरु एसन बात न है। गरम न हो, ताव नहीं दिखा रहे हम लोग। हाथ जोड़ के कहते हैं, हमर नौकरी बचा दे आज। नहीं तो आठ आना आदमी परती मिलता है तो किसे बुरा लगेगा। घर आई लक्ष्मी कौन ठुकराएगा? पर आज इज्जत रख दे। आज मजबूरी है मेरे बाप। तुरते जाँच बैठ जावेगी, तोरी हमरी साझेदारी पर। कल से तो फिर होवेगा ही यह धन्धा। हम सब क्या तुम सब के रोक सकते हैं? तोहनी सब चोरवन नहीं है गुरु, चोर तो यह सरकार है, जो न रोजगार देती है, न सस्ता करती है। जो न जिएके जुगाड़ करती है, न मरे के ठिकाना देती है।” टी.टी. ने गिड़गिड़ा कर कहा।

“हाँ यह बात हुई न। तैं तपाक से गुस्सा के बोलबै तो हमनी नाय (नहीं) सहब। एक दिन खातिर समझौता होय जा सके है। जो लकड़ी गड़िया के भीतर धरा गेल (रख दी गई) उ न उतरते। बड़का गट्ठर बफर पे न धरवै। जा, ले जा अपन गाड़ी।” और देखते ही देखते सब बड़ी बहँगी वाले उतर गए। छोटे-बड़े बोरे ले औरतें बच्चे चढ़े रहे। डिब्बों में इक्का-दुक्का लकड़ियाँ भी चढ़ी रहीं।

कुछ लोग फर्स्ट क्लास कम्पार्टमेंट में भी चढ़ आए थे। दो रेलवे स्टाफ आपस में बातचीत कर रहे थे।

“चलो चढ़ले जाएंगे।”

“कहीं रास्ते में चैकिंग हो गई तो?” दूसरा बोला।

“तो क्या हुआ। हम तो रेलवे स्टाफ हैं, कोई नई बात थोड़े ही है, रोज़ तो यही होता है।” आखिर हिम्मत बाँध वह दोनों बिना टिकट फर्स्ट क्लास में चढ़े ही रहे।

एक ऑफिसर भी इसी कम्पार्टमेंट में सवार थे। कुछ व्यापारी भी थे। टी.टी. हमारे ही कम्पार्टमेंट में चढ़ आया था। अफसर ने टी.टी. को देखते ही तपाक से कहा “सब को उतार क्यों नहीं दिया, क्या हम लोग भाड़ा नहीं देते। बिन भाड़े वालों की भीड़ को भी पैसा लेकर आप लोग हमारे डिब्बे में भर दिए हैं।”

“साहब क्या करें हम? हमारी तो दोनों तरफ से मौत है। उन्हें ले जाएँ तो आपकी बात सुनें और अगर नहीं ले जाएँ तो पत्थर से मार खाएँ। पत्थर मार-मार कर मार देंगे हमें ये लोग, तब कोई हमें बचाने नहीं आएगा।” टी.टी. ने कहा।

मैं पूछना चाहती थी, “तो आज पत्थर क्यों नहीं चलाने दिया! उन्हें समझौता करने की सलाह क्यों दी?” मुझे लगा शायद पत्थर चलाने वाले हाथों को अपनी शक्ति की पहचान नहीं है। संगठित नहीं थे वे। बस किसी मौके पर एकजुट हो जाते थे। सम्भवतः उनके संघर्ष के पीछे कोई योजना नहीं थी। केवल अस्तित्व मिटने का भय और भावना थी, जो ऐसे मौके पर उन्हें एकजुट कर देती थी।

मैंने टी.टी बाबू को विश्वास में लेते हुए पूछा, “आदमी पर कितना मिलता है रोज़?”

बड़ी ईमानदारी से वह बोला “आठ आना मिलता है एक रोले, बोरे या बोझे पर। बहंगी वाला ज्यादा देता है। इस पैसे को हम सब स्टाफ और स्टेशन मास्टर मिल कर बाँट लेते हैं। ये लोग रोज़ पैसेंजर से जाते हैं और माल बेच कर साँझ को आते हुए अपना हिस्सा देकर लौटते हैं। बस वाला भी इन लोगों से ढाई रुपये की जगह एक रुपया प्रति पैसेंजर लेता है। इन्हें कोई रोक नहीं सकता देवीजी। जेल ले जाएं या जंगल में उतार दें। जंगल से लकड़ी काटना, कोलियरी से कोयला चुराना, महुआ चुआना, हँडियाँ बेचना, घूस देकर बिना टिकट जाना और कौड़ी के मोल अपना सामान बाजार में बेच कर आना, इनके जीने की मजबूरी है। अब तो धड़ल्ले से ये लोग आते-जाते हैं। अब ये लोग अपने आप को चोर-वोर भी नहीं मानते। फिर जीने के लिए जद्दोजहद कोई चोरी थोड़े ही है। बेईमान तो ये नेतागण हैं जो मेहनत की रोटी खाने वालों के लिए व्यवस्था नहीं करते। केवल दलाल और ठेकेदार पलते हैं यहां।” बोलते-बोलते वह चुप होकर कुछ सोचने-सा लगा।

मैंने कुरेदते हुए पूछा, “डरते नहीं ये लोग?”

“पहले डरते थे, चोरी को बुरा भी मानते थे। अब वे संगठित हो गए हैं। अब कोई लकड़ी या कोयले की चोरी को चोरी मानने को तैयार ही नहीं है।”

फिर अपनी बात का तर्क देते हुए वह बोला--“मानें भी कैसे? दो तरह का कानून जो है इस देश में। धन या बल से बड़ा आदमी चोरी करे, तो उसे कुछ नहीं होता, उल्टे वह आदर पाता है। छोटा आदमी कहीं पकड़ा जाय तो उसकी फजीहत हो जाती है। भला क्या फायदा ऐसे कानून बनाने से, जिसे सरकार लागू नहीं कर पाती। मानने वाले के लिए कानून है, न मानो तो नहीं है। भगवान जैसन है यह कानून। मानो तो

पत्थर में भी है, न मानो तो आकाश में भी नहीं।” उसने अच्छा खासा भाषण झाड़ दिया।

उसकी बात मुझे सच लगने लगी थी। मेरे भीतर बाढ़ की तरह एक बहस उमड़ी चली आ रही थी!

“पहले तो इन लोगों को अपराध-बोध होता था, ऐसा क्या हो गया अब कि...?”

“अब जीने की इच्छा ने उनके इस ‘बोध’ को ही समाप्त कर दिया है देवीजी।” वह मुझे बीच में ही टोकते हुए बोल पड़ा था।

“जीने की इच्छा या जीवन-बोध तो सबसे अधिक जानवरों में प्रबल होता है, इसी के चलते वे ज्यादा अपने बचाव में हमला करते हैं। यह तो आदिम-सहजेच्छा है! इसे वश में करना ही तो सभ्य होने का लक्ष्य है।” मैंने सवालिया नज़रों से उससे पूछा।

“तो क्या आपकी नज़र में ये लोग सभ्य नहीं? जंगली हैं?” उसने एक तीखा सवाल दागा।

मैं जवाब देती इससे पहले ही वह बोल उठा “जी नहीं देवीजी। ये लोग जंगली नहीं हैं। जीने की कला इन्हें खूब आती है। हम सभ्य लोगों से कहीं ज्यादा सभ्य हैं ये लोग। किन्तु अब ये लोग समझ गए हैं कि कैसे कालान्तर में कुछ शक्तिशाली लोगों की इच्छा-पूर्ति के लिए ही इन जैसे लोगों और समाजों की सहजेच्छाओं या जीवन-बोध को कुचलने के षड्यन्त्र को सभ्यता की परिभाषा बना दिया गया और आम आदमी के लिए जीवन-बोध यानी जीने की सहजेच्छा अपराध हो गई। अब ये अपराध-बोध से मुक्त हो गए हैं। वे अब जान गए हैं, कि उन्हें जीना है, इसलिए वे अब जीने के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं बस।”

मैं अवाक्-सी उसका तर्क सुन रही थी। तर्क इतना सटीक था कि काटते न बनता था। कितना अंतर था उसकी सोच में और सरकारी तन्त्र की सोच में?

मैं कुछ और पूछती उससे पहले ही वह पुनः बोल उठा “देवीजी आप तो इस व्यवस्था की अंग हैं न। हम भी वही हैं। पर मैं हर रोज़ इन्हें नज़दीक से देखता हूँ। ये चोर-चकार नहीं हैं। मेहनती और भले लोग हैं। ये रोज़ कमाते हैं रोज़ खाते हैं। जमा करना इनकी आदत नहीं है। ये जंगली नहीं। इनके यहाँ ज़बान की बहुत कीमत है। जीने के लिए लड़ना, जीने के लिए कानून तोड़ना, जीने के लिए मरने को

तैयार रहना, जोखिम उठाना, हमले रोकना, हमले करना, गलत है क्या? मनुष्य तो सृष्टि के आदिकाल से ही संघर्ष करता रहा है। तब वह आजाद था जानवरों के अधिक नज़दीक था बल्कि कहा जाए उनका सहचर था। पर सभ्यता के नाम पर वह सभ्यता का जुआ पहन उसका ही गुलाम बन गया उस सभ्यता का बँधुआ बन गया, जिसे उसने ही निर्मित किया था। उसके भीतर का जीवन-बोध से युक्त आदमी मरने लगा और वह खतरों से लड़ने की बजाए खतरे टालने या झेलने लगा। यह खुशी की बात है देवीजी कि उस मरे हुए समाज में संभवतः आज फिर से एक हरकत एक भूख एक इच्छा जीने की चाह पैदा हो रही है! यह अपने में बड़ी बात है। ऐसे भी, जीने के लिए चोरी पाप है, अपराध है या एक कला है आज के युग में ऐसी सोच या दृष्टिकोण समाज या व्यक्ति की सामर्थ्य पर निर्भर है। समाज ज़िन्दा रहे या चन्द लोग इसी में चुनाव करना है इन्हें? ये स्वयं ज़िन्दा रहेंगे तभी इनका समाज इनकी संस्कृति जीवित बचेगी। ये अब खुद को और अपने समाज को ज़िन्दा रखने के लिए लड़ रहे हैं।”

वह चुप हो गया था! मेरे भीतर कोई बोलने लगा था “यह गुलामी से मुक्त होती पीढ़ी है, एक बड़ी जमात है जो इन नए मूल्यों की स्थापना कर रही है। चोरी, चोरी है या हुनर, सही क्या है, गलत क्या है, यह निर्णय कौन करेगा? सब कुछ सापेक्ष ही तो है! अरेबियन नाइट्स के कथा-शास्त्र में चोरी एक हुनर है। इन कथाओं में चोरी में माहिर और शातिर शहजादों की भरमार है, जिनका चोरी में पारंगत होने के कारण शहजादी को चोर से ब्याह दिया जाता था। इन लोगों का चोरी पर आधारित यह रोज़गार या धन्धा भी तो सरकार की सुनियोजित ढंग से बेरोज़गार करने की नीतियों या षड्यन्त्र का जवाब है। इनका पत्थर चलाना भी तो सरकार की योजनाबद्ध हिंसा का गुरिल्ला जवाब ही है?”

शायद उसने मेरे मन के भीतर हो रही उस उथल-पुथल को मेरे चेहरे पर पढ़ लिया था। वह मुस्करा कर बोला “दरअसल यह कानून तोड़कर, जन-विरोधी कानूनों की निरर्थकता जताने का एक तार्किक तरीका है देवी जी। गांधी ने भी तो यही किया था न! उसे सब सत्याग्रह कहते हैं। यह भी तो वही कर रहे हैं, फिर इसे कानून-व्यवस्था का प्रश्न क्यों कहा जाता है?”

मैं उससे सहमत होती जा रही थी। मेरे मन की आंखें खुल रही

थीं और मूरी का वह स्टेशन एक विशाल मैदान में बदल रहा था, जो राँची से होते हुए पूरे देश में दूर-दूर तक फैलता जा रहा था। लकड़ी ढोते आदिवासियों की एक विशाल जमात धीरे-धीरे मार्चपास्ट करती कतारबद्ध होकर आगे ही आगे बढ़ी जा रही थी। ट्रेन के बाहर खिड़की से होकर एक के बाद एक गुजरती पेड़ों की कतारें, अब जीवन-बोध से युक्त मनुष्य की कतारों-सी दीख रही थीं कि एकाएक गाड़ी रुकी!

अगले स्टेशन पर हमारे डिब्बे में चलती गाड़ी में एक औरत हँड़िया लिए चढ़ गई। चारों तरफ एक गन्ध फैल गई। गन्ध! जिन्दगी के लिए जूझते लोगों के लिए वह जीवनदायनी बूटी की गन्ध थी जिसे सूँघते ही लक्ष्मण जिन्दा हो उठा था जिसे हनुमान को पर्वत समेत लाना पड़ा था चूँकि वह पहचानता नहीं था उस बूटी की गन्ध! पर अभिजातों की भाषा में रेल के डिब्बे में दुर्गन्ध फैल गई थी। कुछ ने नाक-भौं सिकोड़ी, कुछ ने नाक पर रूमाल रख लिया, कुछ ने गाड़ी से उतर कर स्टेशन पर खड़े टी.टी. को खा जाने वाली नज़रों से घूरा। उनकी नज़र में जैसे टी. टी. ही सबसे बड़ा अपराधी हो, जो उन्हें बढ़ावा देकर चोरियाँ करवाता, बिना टिकट सफर को उकसाता और रोकने पर पत्थर चलवाता है।

मैंने मुस्कराकर उस कसी-गढ़ी रोबीली औरत से पूछा “हँड़िया है क्या?”

“हाँ माईजी हँड़िया न बेचें तो पेट कैसन चले। सरकार तो नयका-नयका (नया-नया) कानून गढ़ देयल है। दारू-पीना, महुआ चुआना, बेचना बन्द कर के गरीबन के जिन्दा जी मरा (मार) देयल है। भला हमनी सब कैसन जीबैय (जिएँ)? दारू पीये वाला तो पीबै करेगा। हाँ, नशाबन्दी होये बाद दारोगा-पुलिस, टी.टी., बाबूमन के घूस के रेट जरूर कुछ बढ़ गेल।”

मैंने पूछा “कोई दूसरा रोज़गार क्यों नहीं कर लेती?”

“हाँ...आ...आ! ढेर रोज़गार है न गऊँवा (गाँव) में!” उसने उलाहना-सा देते हुए कहा।

“कौन सा रोज़गार देले है सरकार? ज़मीन है ही नहीं, परिवार ढेर बढ़ गेल, जंगल में जोत-कोड़ बन्दै हो गेल। पुरान बख़्त में तो हमनी सब परिवार बढ़लै पर जंगल की ज़मीन जोत-कोड़ के खेतवा बना लेत रहे, अब तो उ पर भी रोक लगा देलै है सरकार। सभै चीज़ खातिर सहर में आए के पड़े है, बीहन (बीज) खातिर भी, खाद खातिर भी, बेचे खातिर

भी, बाजार करे खातिर भी और रोज़गार खोजे खातिर भी। अब तो जहान से सभै जंगल उजड़ले जात हैं गाँव भी सून हो गेल। सभै जनी-मरद राँची में बसले खोजे है। नयका-नयका कारखाना खोलत है सरकार। आने-आने देस ते मजूरा आले है। हमनी के सब जगा-ज़मीन सरकार ले लेल है, नौकरियों न देल है। अब सहर वालों, सरकार वालों के पेट की भट्टी मा आग झोंके खातर, गाँव के चूल्हा बुतल (बुझ) जाय है।” उसने रुआँसी हो कर कहा।

“तुम्हारी भी ज़मीन गई है किसी कारखाने में?” मैंने पूछा।

“हाँ माईजी, हमर घर-बाड़ी सब तो ले लेले। बीस काठ के खेत हले हमर। अब तो बस महुआ पे गुजर चले है। महुआ के गाछ भी गाँव के बड़कन या जंगल सिपाही जोर-जबरन हथिया लेल हैं। तेरह टोकरी महुआ चुने पर एक टोकरी हमर मजूरी देवे है। आधी रात से चुने लगे है महुआ बाले-बुतरू (बच्चों) समेत, तब एक टोकरी नसीब होवे है। बस यही महुआ, हँडिया तो हमर जीव बचौले है।” उसने हँडिया के बरतन को छूकर माथा छुआते हुए प्रणाम की मुद्रा में कहा, जैसे हँडिया कोई देवी माता हो, जिसे प्रणाम करने से उसकी कमाई ज्यादा हो जाएगी।

“गाँव में ही क्यों नहीं बेचते जो पैदा करते हो?” मैंने जानबूझ कर उससे कुछ कहलवाने की नीयत से पूछा।

वह हँसते हुए बोली “हाँ माईजी! के किनतै हमर से समान गऊँवां में? किकर पास है टका? सभै तो खटे-खाय वाला है। दिन में कमाया साँझ के खाया। जिकर (जिसके) पास टका पैसा है, ऊ सब तो सहर मा आ के मज़ा मार रहल है। बढ़िया अंग्रेजी दारू पीए है। हमर से काहे ले किनेगा (खरीदेगा) महुआ या हँडिया?” उसने मुँह से मुद्राएँ बना कर मुझे समझाते हुए कहा।

टी.टी. मुस्कराया। गाड़ी के उस डिब्बे में सफर कर रहे व्यापारी और अफसर उस बूढ़ी औरत को हिकारत की नज़र से देख रहे थे, जैसे कि कह रहे हों, “ये लोग सुधरने वाले नहीं चाहे जितनी भी सुविधा इनको दे दो। बस एक बोतल दारू पर बिक जाएंगे। इनका पैसा, दारू या जुए में या सूद में।” मुझे लगा शायद वे सब खुद ही हड्डियों तक भयभीत हो रहे हैं। वे जान रहे हैं दारू के बदले ली गई ज़मीनों या जंगलों को वापिस कराने के लिए जो लोग अब हाथ में पत्थर लिए खड़े हैं, कल उनके हाथ में बन्दूकें होंगी। शायद वे महसूसने लगे हैं कि जुए में हारे

लोगों के हाथ बाजी जीतने वालों की जेबों में घुसने को उद्यत हो रहे हैं दारू के टीने लुढ़काए जा रहे हैं व्यापारियों और अफसरों की हिकारत से देखती नज़रें, अब भयभीत हो रही हैं।

मुझे लग रहा था कि कुछ जग रहा है। एक बोध-जग रहा है एक भूख, एक अहसास कि 'हम इनसान हैं। हमें भी जीने का हक है हम जिएंगे।' अभी तक तो ये इस ज़िन्दगी को अपनी नियति माने हुए थे पर अब लग रहा था कि जैसे ये नियति बदलने का फैसला कर चुके हैं। ये नौकरशाहों को बताने लगे हैं।

“अब पहले की तरह सबकुछ चलने वाला नहीं है। अब बात और है। पहले जमाने ने हमें बदला था अब हम अपने लिए इस जमाने को बदलेंगे।”

राँची से पहले ही चेन पुलिंग हुई। वह फटाक से उतर गई। मैंने देखा लोग धड़ाधड़ पूरी गाड़ी से कोयला, लकड़ी, हँडिया लिए गाड़ी से उतर कर रेलवे लाइन के पार चले जा रहे हैं ज़िन्दा रहने के लिए! शायद आने वाले कल की तैयारी में भी...

ललिता

मांडूडीह के रविदास टोला में जितने भी रविदास हैं, वे एक ही व्यक्ति की औलाद हैं। सब का पड़दादा या लकड़दादा एक था लेकिन सभी में खून का रिश्ता होने पर भी व्यवहार में यह रिश्ता अब कायम नहीं है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, होड़ के अलावा ज़मीनों के आपसी झंझट, जो गाँव-घरों में चलते हैं, तो हैं ही, साथ-साथ शादी-ब्याह या प्रेम-प्रसंगों को लेकर भी तू-तू मैं-मैं हो ही जाती है। पहले झारखण्ड के सदान (गैर आदिवासी) समाज में प्रेम-प्रसंगों को इतना तूल नहीं दिया जाता था। इसे स्वाभाविक क्रिया-प्रक्रिया माना जाता था। कौन किसके साथ भागा, यह थोड़ी देर के लिए टोले भर में चर्चा का विषय बना रहता था पर थाना-पुलिस नहीं होता था। ज्यादा से ज्यादा लोग, ऐसे विजातीय या जातीय प्रेम-प्रसंग कर गाँव से भाग जाने वाले जोड़ों को भगोड़ा घोषित कर देते थे। ब्याह करके गाँव में आ बसने वालों को दण्डस्वरूप कुछ राशि भरा कर रहने दिया जाता था नहीं तो टोला-बाहर कर दिया जाता था। इधर कई लोगों को कोलियरियों में काम मिल गया था। कई गैर-कानूनी खदानों में भी खट कर कमाने लगे थे। कई रंगदारों की टोली में शामिल हो गए तो कई कोयला डिपो में दंगल बनाकर 15-20 दिन में कुछ-न-कुछ खाने भर पाने लगे। दारू चुआने का पुश्तैनी काम तो चलता ही था। इन सबकी वजह से टोले में गरीबी के बावजूद नगदी पैसा आने लगा था। यह अलग बात है कि दारू के चलते हाथ में पैसा बचता नहीं था। पर इससे क्या? खा-पी कर भी कुछ तो रह ही जाता था घर में। कुछ लोगों ने बच्चों को पढ़ाना भी शुरू कर दिया था लेकिन स्कूल जाने

वाली लड़कियों को माँ का हाथ बँटाने के लिए प्राइमरी के बाद स्कूल जाने से बन्द भी कर दिया जाता था। घर के लड़के पढ़ने तो लगे पर वे स्कूल-कॉलेजों में अधकचरी संस्कृति से प्रभावित भी होने लगे। फलतः वे अपने मुक्त रीति-रिवाजों, औरतों की आजादी के प्रावधानों पर रोक लगाने लगे। औरत पहले घर में कमाने वाला हाथ थी, इसलिए उस लड़की का दाम दूल्हा देता था। अब सवर्ण संस्कृति की हवा लगते ही ये लोग उसे सम्पत्ति मानने लगे थे। सवर्णों की तरह ही अब वे उससे अपना वर चुनने की आजादी खत्म कर, उसके पंख काट दे रहे थे। अब वे तिलक-दहेज भी माँगने लगे थे।

विसेसर और रामा राम दोनों तापिन साऊथ में एक साथ काम करते थे। मांडू रविदास टोला के और भी कई लोग वहाँ खटते थे। रामा राम ने अपनी नौकरी कोयला एग्रीमेंट के प्रावधान 9-4-3 के तहत अपने बड़े बेटे मोहन को दे दी थी। छोटा बेटा अर्जुन जो बी. ए. कर चुका था, माँ की नौकरी के बदले स्पेशल रिटायरमेंट योजना में अपनी नौकरी के लिए केस लड़ रहा था। मोहन भी मैट्रिक पास था।

मोहन और अर्जुन का ब्याह एक ही साथ छोटी उमर में कर दिया था। उस समय मोहन कुल सात बरस का था पर अर्जुन दो-तीन बरस का ही था। मोहन को भी याद नहीं कि कब उसका ब्याह हुआ था? वह अपनी पत्नी को लाकर गृहस्थी बसा चुका था। अर्जुन चूँकि कॉलेज में पढ़ता था, इसलिए वह पत्नी को अपने घर नहीं लाया था।

विसेसर की बेटी ललिता प्राइमरी तक पढ़ी है। सुन्दर है, बहादुर है। दोनों अगल-बगल में रहते हैं। अपनी पहली पत्नी के रहते ही विसेसर ने एक दूसरी औरत, जो कोलियरी में काम करती है और जात की भुइयाँ है, को घर में रख लिया है। वह दम तक दारू पीता है।

उसी टोले में रहता है नागेश्वर राम, जो तापिन साऊथ में पे-लोडर आपरेटर बन गया है। यूनियन की बदौलत उसकी बहन कबूतरी कामिन तापिन साऊथ में भट्टा डिपो में पीस रेटिड मज़दूर के काम पर लग गई थी। किशोरी जो कोलियरी में मलकड़ा था, का बेटा बैजनाथ राम केवल पढ़ा ही नहीं, वह राजनीतिक चेतना से भी लैस था। गाँव के कई लड़कों ने, जो पढ़ रहे हैं या पढ़ कर बेरोजगार बैठे हैं रविदास टोले में अपने समाज की एक कमिटी बना ली है। पहले समाज की पंचायतों में बूढ़े लोग सन्तुलन कायम रखते थे पर अब वे लड़के, जो उदंड ही

नहीं, अधकचरी मानसिकता से लैस भी हैं, समाज की पंचायतों में हावी हो रहे हैं। ये पंचायतें बेरोजगार युवकों और समाज के तथाकथित भ्रष्ट नेताओं की अवैध कमाई का जरिया भी बन गई हैं।

पहले ये पंचायतें कुर्मी समाज में कायम हुईं। दूसरा ब्याह या पहली पत्नी को छोड़ना बन्द कराने के नाम पर बनी इन पंचायतों ने, लड़के-लड़कियों के छोड़ा-छोड़ी तथा दूसरे ब्याह के मामलों में, दोनों पक्षों से दस-दस हजार तक दंड वसूलने के साथ-साथ, उनकी पिटाई करने का नियम भी बना दिया था। ये कमेटियाँ अपने साथ हमेशा पिटाई करने वाला एक नौजवान दल रखती थीं। इससे दूसरा ब्याह तो रुका नहीं, उलटे इन्हीं कमिटियों को पैसा देकर लोग दूसरा ब्याह करने लगे। जो पैसा नहीं दे पाते थे, उन पर रोक जरूर लागू हो जाती थी।

कभी-कभी तो पिटाई करने वाले दल के सदस्य भी दूसरा ब्याह या 'पहलकी' पत्नी छोड़ा-छोड़ी के आरोप में पकड़े जाते थे और उनके हाथों पहले पिटे नौजवान ही इन्हें पीटते थे। उनकी स्थिति काफी हास्यास्पद हो जाती थी। कई बार प्रेम विवाह करने वालों से भी पैसा वसूलने के लिए वे उनके माँ-बाप से मिल कर उनका ब्याह रुकवा देते थे। वैसी ही एक पंचायत का नतीजा था हेन्देगढ़ा कांड। इसमें लड़की कुर्मी थी और लड़का रविदास। इसलिए दोनों पक्षों से पैसे भी लिए और लड़के को पत्थरों से कूच कर मार भी डाला। अपनी लड़की को भी जलती लुकाठी से दाग दिया। उस समय रविदास समाज काफी आन्दोलित हुआ था चूँकि उनका लड़का मार दिया गया था। हालाँकि यह घटना भी सामने न आती, यदि हेन्देगढ़ा का लाल झंडे का समर्थक 'तूरी' दलित समाज उन्हें चेतावनी देकर सावधान नहीं करता। तूरियों ने ही रविदासों का साथ दिया था।

रविदास व अन्य दलित जातियों की लड़कियों को उनके माँ-बाप पैसे के अभाव से या दलालों की साजिश से कानपुर-मेरठ-हरियाणा व पंजाब के, अधेड़ लोगों के हाथ बेच देते रहे हैं। मांडू के एक शुकर राम की दोनों बेटियों को नागेश्वर राम ने उत्तर प्रदेश में कुछ वर्ष पहले बिकवा दिया था। उनका आज तक पता नहीं चला। शुकर तो बेटियों के गम में मर गया, उसकी पत्नी को डरा-धमका कर चुप करवा दिया गया। समाज के ठेकेदार और पंच बने इन स्वयंभू नेताओं ने अपने समाज की औरतों पर अब कहर भी ढाना शुरू कर दिया है। बाल-विवाह

को तो ये रोकते नहीं पर जब लड़का-लड़की सयाने होकर प्रेम-प्रसंगों में पकड़े जाते हैं तो यही लोग उनका भयानक शोषण और भयादोहन करते हैं। लड़का-लड़की की शादी को माँ-बाप तैयार भी हो जाएँ तो भी ये लोग उन्हें रोकते और दंडित करते हैं। अपनी बात नहीं मानने पर मारपीट तक करते हैं, गाँव से बाहर भी निकाल देते हैं। नागेश्वर राम ने तो अपनी बहन कबूतरी को भी गाँव से निकलवा दिया था। उसका कसूर इतना ही था कि उसकी बेटी मांडू के ही एक साव जाति के लड़के से प्रेम करते पकड़ी गई थी। दोनों की पिटाई हुई, लड़की को जबरन दूसरी जगह ब्याह दिया गया। साव जाति भी चुप रही। एक दलित लड़की से उनका बेटा ब्याह करता तो नाक कट जाती। नागेश्वर राम ने अपनी ही बहन कबूतरी को उसके अपने घर में रहने पर भी रोक लगा दी। वह तापिन साऊथ काँटा पर किराए का घर लेकर रहने लगी।

इसी तरह इन्हीं महाशय के घर एक और लड़की रहती है। पहले वह किसी स्वजातीय से प्रेम करती थी। नागेश्वर राम ने लड़के को पीट कर भगा दिया और दूसरे परिवार में लड़की का ब्याह करवा दिया। जब ब्याह के दो माह बाद ही उस लड़की के बच्चा पैदा हुआ तो ससुराल वालों ने उसे घर से निकाल दिया। अब वह लड़की और उसकी माँ इन्हीं पर आश्रित होकर, इन्हीं के साथ जीवन बिता रही हैं। नागेश्वर राम को मुफ्त में कमाने और भोगने के लिए दोनों माँ-बेटी मिल गईं।

ललिता-अर्जुन का किस्सा तो और भी दर्दनाक है। दोनों एक दिन प्रेम करते पकड़े गए। समाज के रंगदार जुटे। विसेसर अपनी बेटी ललिता का ब्याह अर्जुन से करने को तैयार हो गया पर नागेश्वर राम, बैजनाथ राम तथा पाँच-छह अन्य दबंग लोगों ने एतराज किया।

“हम लोगों का पड़दादा एक था। उस रिश्ते से ये भाई-बहन हुए। कैसे शादी होगी?” नागेश्वर ने पूछा।

ललिता ने जवाब दिया “कौलेश्वर राम की बेटी ने भी तो अपने फुआ के लड़के के साथ ब्याह किया है, तब किसी ने नहीं रोका, तो अब क्यों?”

“उसकी चर्चा मत कर, बस कह दिया न कि तुम्हारा ब्याह इससे नहीं होगा!”

और पंचों ने फैसला सुनाया, “अर्जुन को आठ हज़ार और विसेसर को पन्द्रह सौ रुपए दंड भरना होगा।”

ललिता और अर्जुन के मिलने पर रोक लगा दी गई। विसेसर ने पन्द्रह सौ रुपए दंड स्वरूप भर दिए पर अर्जुन ने दंड भरने से इनकार कर दिया। अर्जुन का बड़ा भाई मोहन अर्जुन के ससुराल जा कर दो वर्ष की आयु में ब्याही उसकी पत्नी को इस विचार से घर ले आया कि शायद पत्नी आने पर अर्जुन का मन पलट जाए। पर न अर्जुन का मन पलटा और न ही ललिता का। जोखिम उठा कर भी उनका मिलना जारी रहा। अर्जुन ने बचपन में ब्याही अपनी पूर्व पत्नी को स्वीकार नहीं किया।

“जब मुझे याद ही नहीं, कब मेरा ब्याह हुआ, तो जरूरी नहीं कि मैं उसे स्वीकारूँ। आप लोग इसे हर्जाना देकर मायके भेज दें या हम दोनों को मुक्त कर दें! मैं इसके साथ नहीं रहूँगा।” अर्जुन का तर्क था। पूरे परिवार ने अर्जुन का घर में बहिष्कार कर दिया बोलचाल बन्द कर दी पर अर्जुन नहीं झुका।

एक दिन घर में चावल नहीं था। मोहन ड्यूटी गया था। माँ ने पूछा, “चावल कौन लाएगा?”

“लाओ मैं लाता हूँ।” अर्जुन ने तुरन्त कहा।

माँ से पैसा लेकर जो वह घर से निकला तो फिर लौटा ही नहीं। ललिता भी घर से गायब थी। दोनों योजना बना कर गए थे।

नागेश्वर, बैजनाथ आदि ने विसेसर पर दबाव डाल कर अर्जुन और उसके सभी भाइयों पर लड़की भगाने का केस करवा दिया। अर्जुन का एक चचेरा भाई लड़की भगाने में मदद करने के आरोप में गिरफ्तार भी हो गया। अर्जुन के घर के बाकी सभी मरद जिन पर केस था, घर से फरार हो गए!

गाँव के इन्हीं दलालों ने अर्जुन की माँ और चाची को धमकाया “लड़की वापस ला दो, नहीं तो बरबाद कर देंगे। पूरे कुनबे को साफ कर देंगे। एक को भी ज़िन्दा नहीं छोड़ेंगे।” रात का समय था, सब औरतें डर से घर में घुस गईं, किवाड़ बन्द कर लिए। बूढ़ा रामाराम सिर झुका कर सब सुनता रहा। दलालों पर केस दायर नहीं किया गया।

रात में दी गई धमकी की सनहा दर्ज कराने अर्जुन की माँ और चाची मांडू थाना गईं, मगर थानेदार ने उन्हें डाँट कर भगा दिया।

इसी बीच अर्जुन ने मोहन को दिल्ली से एक कोर्ट एफेडेविट के

साथ, ललिता के साथ अपने ब्याह की एक फोटो भेजी थी, साथ ही उसने हजारीबाग के एक डॉक्टर के प्रमाणपत्र की प्रति भी भेजी, जिसके अनुसार ललिता 19 साल की थी। विसेसर ने एफ. आई. आर. में लिखवाया था कि ‘लड़की अभी 14 वर्ष की ही है और नाबालिग है।’

दरअसल जैसे मोहन अर्जुन की पहली पत्नी को लेकर आया था, वैसे ही विसेसर ने ललिता के लिए वर खोजना शुरू कर दिया था। कभी उससे उमर में कम, कभी अपनी उमर का। ललिता ने घर में साफ मना कर दिया था कि वह किसी और से ब्याह नहीं करेगी। फिर भी वह मन ही मन डर रही थी कि कहीं उसका बाप, किसी बूढ़े या कम उमर वाले से उसका जबरन ब्याह न कर दे। इसीलिए वह योजना बना कर अर्जुन के साथ भाग गई। ललिता की दो बड़ी बहनों को विसेसर ने 13-14 साल की उमर में ही ब्याह दिया था। बड़ी के तीन, उससे पीठ वाली के एक बच्चा भी हो चुका था। ललिता की समझ में यह नहीं आ रहा था कि ऐसा क्यों होता है कि जब पिता अपनी नाबालिग बेटी का ब्याह करता है, तो न पुलिस पूछती है, न समाज और न ये तथाकथित पंच। इसके विपरीत अगर लड़की अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, तो माँ-बाप बालिग लड़की को भी नाबालिग करार कर थाना में केस कर देते हैं। वह मन ही मन तर्क करती, सवाल पूछती “क्या मेरे जैसी लड़कियों के हितार्थ इस स्थिति से रक्षा के लिए देश में अभी तक ऐसा कोई कानून नहीं है? केस होने पर जब कोर्ट लड़की को माँ-बाप को सौंपता है तो वह लड़की के माँ-बाप को ऐसी ताकीद देकर यह क्यों नहीं सुनिश्चित करता कि अगर वह लड़की 14 वर्ष की है, तो उसके माता-पिता, भाई या गार्जियन उसका ब्याह 18 वर्ष की आयु पूरी होने तक नहीं करेंगे?”

26 जुलाई, 1995 को मोहन राम मेरे यूनियन कार्यालय में आया और बताया कि वह अपने बाप रामाराम की लाश लेकर आया है। किसी ने उसकी हत्या करके, उसे नंगा कर, मांडू तालाब में फेंक दिया था। मैंने रामाराम का पोस्टमार्टम करवाया। माकपा के जिला सचिव कामरेड सरजीत सिन्हा और गणेश कुमार को मांडू भेजा। उनके साथ ‘प्रभात खबर’ के हजारीबाग के संवाददाता भी गए और वे उसके कई फोटो भी खींच कर लाए। उन्होंने ही आकर सूचना दी कि हत्या करने वाले वही लोग थे, जिन्होंने रामाराम पर दंड लगाया था। उन्हीं पर हत्या की

शंका जताते हुए मोहन के छोटे भाई ने, मांडू थाने में रिपोर्ट दर्ज कराई। जब रामाराम ने दंड देने से मना कर दिया, तो उन्हीं लोगों ने यह आरोप लगाना शुरू कर दिया कि अर्जुन की पहली पत्नी भी है, इसलिए दूसरा ब्याह नाजायज़ है।

मैंने एस.पी. को पत्र लिखा कि हत्या के मामले में गिरफ्तारी करें। लड़की भगाने का मामला विवादास्पद हो सकता है पर उसके कारण हत्या का मामला तो अनदेखा नहीं किया जा सकता। मैंने यह भी लिखा कि लड़की नाबालिग नहीं है। जब उसका छोटा भाई आठवीं क्लास में पढ़ता है जो 15 वर्ष का है, तो लड़की 14 वर्ष की कैसे हो सकती है? चूँकि वह भाग गई है इसलिए उसे नाबालिग बताया जा रहा है।

15.8.95 से मैं कुछ दिनों के लिए हजारीबाग से बाहर गई थी। पहले केदला यूनिशन के सम्मेलन के लिए और फिर 21.8.95 को होने वाली हड़ताल के प्रचार हेतु। उसी रात मैं पार्टी सम्मेलन में पटना चली गई। मैं राजगीर में हो रहे यूनिसेफ का कार्यक्रम करके पटना लौट गई। वहाँ से 2.9.95 को हजारीबाग आई।

इसी बीच मोहन दिल्ली जाकर अर्जुन और ललिता को हजारीबाग ले आया था। वे लोग मेरे आने के बारे में सूचना लेने बराबर यूनिशन कार्यालय में आते रहते थे। कामरेड गणेशजी नहीं थे और यूनिशन ऑफिस बन्द था।

इस बीच मांडू में फिर उनकी पंचायत बैठी जिसमें मोहन राम पर दबाव डाला गया कि वह हत्या की एफ. आई. आर. वापस ले ले तो उस और उसके भाई अर्जुन पर से लड़की भगाने का केस खत्म कर दिया जाएगा। हत्या के अभियुक्त पुलिस को भारी घूस दे चुके थे। इतना ही नहीं, अर्जुन की पहली पत्नी से घटना के 15 दिन बाद बयान दिलवाया गया कि रामाराम के पुत्रों ने ही पैसे और नौकरी की खातिर अपने बाप (उसके ससुर) को मार डाला जबकि रामाराम ने खुद ही कोयला समझौते की धारा 9.4.3 के तहत अपने बेटे को नौकरी दी थी। फिर हत्या का सवाल कहाँ उठता था?

अर्जुन की पहली पत्नी के भाई उसे लेने आए। मोहन राम का परिवार दोनों बहुओं को भी रखने को तैयार था, जैसा कि इनके घरों में प्रायः होता है। मोहन राम ने कहा “यदि लड़की रहना चाहे, तो वह उसे घर में आदर से रखने को तैयार है।” अर्जुन की पूर्व पत्नी ने पंचायत

में स्वीकार किया कि उसे उस घर में और कोई दुःख तो नहीं है पर वह पति के प्रेम से वंचित है, इसलिए वह ससुराल में रहकर क्या करेगी? उसने मायके जाने की जिद की। लड़की को उसके भाई ले गए। बाद में उन्हीं तथाकथित पंचों ने, जो इस हत्या केस के अभियुक्त थे, उस केस में जाकर लड़की से ऊपर वर्णित उलटा बयान दिलवाया। जब तक वह ससुराल में थी, तो जब भी पुलिस आई, पूर्व पत्नी ने कभी भी ऐसा बयान नहीं दिया था।

सवाल यह उठता है कि क्या लड़की भगाने का मामला हत्या से अधिक गम्भीर है? ललिता जब हजारीबाग में अर्जुन के साथ पकड़ी गई तब मांडू थाना जाने पर वहाँ एकत्रित सैकड़ों लोगों की भीड़ में उसने यह बयान दिया कि वह खुद अर्जुन को लेकर भागी थी चूँकि उसका बाप उसका ब्याह किसी और से जबरन करवा रहा था, जो उसे पसन्द नहीं था। उसने यह भी कहा कि वह अर्जुन के साथ ही रहेगी।

अब प्रश्न यह है कि क्या अर्जुन की पूर्व पत्नी, जो स्वयं भी नहीं जानती कि उसका ब्याह कब हुआ को क्या अर्जुन के साथ रहने के लिए बाध्य किया जाय या उसका विवाह कहीं अन्यत्र करवा दिया जाय? मेरे सामने प्रश्नों की झड़ी लग गई। ललिता पूछ रही थी “तो क्या मुझे अपनी ऐसी सौतेली माँ और पियक्कड़ पिता के घर भेज दिया जाएगा ताकि वे मुझे डरा-धमका कर बालिग होते हुए भी मेरा ब्याह किसी कम उम्र या अधेड़ अथवा हमउम्र से करवा दें?”

अब प्रश्न ही मुझसे प्रश्न करने लगे थे “क्या दोनों लड़कियाँ अर्जुन की पत्नी बन कर रहें?”

“क्या दो-तीन वर्ष की आयु में किए गए विवाह को कानूनी माना जाय?”

“क्या ललिता के साथ अर्जुन का ब्याह, जो बगोदर बस्ती के पंडित ने कराया था को वैध माना जाय?”

“क्या ब्याहता लड़की का पुनर्विवाह बिना लड़की की मर्जी के, उसके पिता या नागेश्वर राम अथवा अन्य पंच मिलकर करवा सकते हैं? क्या यह कानून का उल्लंघन नहीं होगा?”

अर्जुन-ललिता केस एक टेस्ट केस है। इसमें एक त्रिकोण है पति-प्रेमिका और पूर्व पत्नी। पति ने युवा होने पर प्रेम किया और प्रेमिका से ब्याह कर लिया।

अब प्रश्न तर्क करने लगे थे! वे जम कर बहस करने लगे!

“सवाल यह है कि अब अर्जुन किसे छोड़े पूर्व पत्नी को या प्रेमिका पत्नी को?”

तड़ाक से दूसरा प्रश्नवाचक स्प्रिंग वाले खिलौने की तरह उठा खड़ा हुआ और चिचियाने लगा “तो क्या पहला विवाह वैध है?”

ललिता ने अपने बाप से पूछा “जब नाबालिग होने के कारण अर्जुन के साथ मेरा विवाह गलत है, तो तुम कैसे मेरा विवाह दूसरे के साथ करा रहे थे? उसी तर्क से अर्जुन और उसकी पहली पत्नी और मेरी दोनों बड़ी बहनों का ब्याह भी गलत है चूँकि ब्याह के समय वे सभी नाबालिग थे। फलतः उनकी औलाद भी नाजायज़ है।”

ललिता ने कोर्ट से भी सवाल किया “मुझे मेरे माँ-बाप के पास सौंपने से पहले मेरे बाप द्वारा आयोजित ब्याह पर रोक क्यों नहीं लगाई?”

ललिता ने कई सवाल एक साथ दाग दिए हैं “क्या भारत का कानून मेरी रक्षा करने में सक्षम है? क्या भारत में मुझे न्याय मिलेगा? क्या अर्जुन, जिसके साथ मैं भागी थी जेल में यूँ ही सड़ता रहेगा? पुलिस ने मेरा बयान कोर्ट में क्यों नहीं दर्ज करवाया?”

मोहन ने भी पूछ ही लिया “हत्या के मामले में पुलिस सक्रिय क्यों नहीं है? आखिर मेरे बाप की हत्या तो हुई है और अभियुक्त लोग खुले आम ड्यूटी पर जाते हैं, घूमते हैं, पुलिस उन्हें क्यों नहीं पकड़ती? दो लोग फरार भी हैं। पुलिस क्यों नहीं ढूँढ़ती? अपने बाप के हत्यारों के खिलाफ दायर किए गए केस को वापस लेने के लिए क्या मुझ पर पुलिस और पंचों का दबाव बना रहेगा? अर्जुन की पूर्व पत्नी का बयान शुरू के दिन ही क्यों नहीं लिया? पुलिस क्यों इस मामले को उलझा रही है?” प्रश्नों की बौछार अनवरत हो रही है और सबसे बड़ा प्रश्न यही है कि उत्तर कौन दे? कब दे? क्या दे...?

वह जिएगी अभी

वह राजेन्द्र के दफ्तर में उन्हें रात्रि-भोज पर आमन्त्रित करने गई थी। राजेन्द्र एक बड़ी पत्रिका के सम्पादक हैं। वह स्वयं कविताएँ लिखती है। वह जिन्दगी भर मज़दूरों की लड़ाइयाँ भी लड़ती रही है। उसने ये सब लड़ाइयाँ मिल-जुलकर लड़ी हैं पर वह हमेशा अकेली ही रही। परिस्थितियों से लड़ना, समाज से लड़ना और जहाँ कोई कमज़ोर पड़े उसका पक्ष लेकर ताकतवर के विरुद्ध लड़ना, दूसरों की लड़ाइयाँ अपने सिर ले लेना उसकी आदत रही है। पता नहीं वह क्यों हमेशा, हर बात में लड़ाई के मुद्दे खोजने में माहिर हो गई थी। आज भी लड़ रही थी भीतर ही भीतर खुद से और अपने भीतर समाए भय से शायद मौत के भय से। मौत के बहुत हमले हुए उस पर। मौत से कभी भी डरी नहीं थी वह। मौत भागी है हमेशा उसे देख कर। फिर न जाने क्यों इस बार वह बेहद डर गई है। अस्पताल में भर्ती होने के लिए 10 नवम्बर की तारीख सुनिश्चित हो गई है। दिल का ऑपरेशन होना है।

“आज रात को जरूर मेरे घर आइए आप। बाद में तो मैं बम्बई चली जाऊँगी और लौटकर आते ही एस्कोर्ट अस्पताल में भर्ती हो जाऊँगी, पता नहीं जिन्दा लौटूँगी या नहीं! अगर मैं मर गई तो मेरी रचनाओं का क्या होगा? उन्हें आप सँभाल लेंगे न। डायरियों में ही गुम न हो जाएँ कहीं यह निरन्तर अथक लड़ाई जो मैंने ठानी थी? इस दौरान जो कुछ भी मैंने लिखा है, उसे जाहिर करने का मुझे समय ही नहीं मिला।” एक साथ ही बिना रुके वह यह सब कह गई।

विमल जी साथ ही बैठे थे। अचानक गम्भीर हो गए और कहने

लगे “यह क्या कह रही हैं आप? ज़िन्दगी भर आप लड़ती रहीं हैं क्या बीमार होकर बिस्तर पर मरना अच्छा लगेगा आप को? शर्म नहीं आएगी आपको ऐसे मरने से? इसलिए जाइए ऑपरेशन करवा कर लौटकर आइए और फिर लड़ते-लड़ते मरिये...ऐसे नहीं।” धक्क-सा रह गया उसका दिल। यही तो वह भी चाहती रही है, लड़ते-लड़ते मरना, बीमार होकर नहीं।

“क्या करूँ चाहती तो मैं भी यही हूँ पर पता नहीं इस बार क्यों डर लगता है!”

फिर वह भूल गई कि वह राजेन्द्र के दफ्तर में बैठी है। उसका भय भी कहीं दुबक गया! वह उड़ी जा रही थी... कि ओवरबर्डेन के नए पहाड़ ने रास्ता रोक लिया। कई आवाज़ें घेरने लगीं उसे पर एक आवाज़ बहुत तेज़ी से बढ़ी आ रही थी...

“देख तेरी नानी, तेरी नानी है रे यह। तू बड़ा हो कर पीटेगा न अपने बाप को जो दुःख दे रहा है मुझे।” अपने बेटे को गोद में उठाए, प्रोजेक्ट ऑफिसर को एक भद्दी सी गाली देकर हँसती हुई सीता उसी समय उसके सामने खड़ी हो जाती है। सीता का गुस्से से तमतमाया चेहरा! उसके लाल हुए काले गाल, कसी हुई मुट्टियाँ! सीता यह कहकर गुस्से से गरियाने और रोने लगी।

सीता का यह रूप उसे अपने जैसा ही लगता था। वह स्वयं भी गुस्से से रोने लगती थी और फिर लड़ाई के लिए कटिबद्ध हो जाती थी।

“क्यों बहस करते हो प्रकाश! क्या हम बिना बहस के जी नहीं सकते! क्या हम अलग-अलग विचार रखते हुए मित्रवत नहीं रह सकते? मुझे मेरी तरह जीने दो न!” उसने कई-कई बार यह शब्द दोहराए थे पर बेकार!

“फिर क्यों हैं हम साथ?” वह बार-बार अपने से पूछा करती!

उसका क्या रिश्ता है प्रकाश से? औपचारिकता निभाते हैं दोनों। केवल औपचारिकता का रिश्ता है। दिखावे का रिश्ता। दोनों के सोचने का ढंग बिल्कुल उलट है। उसमें हीन-भावना ने एक विश्वास जगाया, जिसने उसे मुखर बनाया, एक संकल्प दिया और दी कभी न मिटने वाली मुस्कान। उसी हीन-भावना ने प्रकाश को चुप्पी दी और अन्तर्मुखी

बना दिया। घर में भी एक दम्भी अफसराना व्यवहार, हर चीज़ में नुक्ता-चीनी, कभी भी खुश न रहना, चिड़चिड़ापन और हमेशा सब पर शक करना। वह दुनिया को अच्छा मानकर चलती रही है। उसे हर व्यक्ति अच्छा लगता है। वह सब पर विश्वास करती है, जब तक कोई चोर न सिद्ध हो जाए। उसके विपरीत प्रकाश सब पर अविश्वास करके चलते हैं जब तक कोई शरीफ न सिद्ध हो जाए।

उसने मन ही मन खुद को सब बन्धनों से मुक्त कर लिया था। शुरू में अपराध-भावना उसे बीधती रहती थी। बाद में वह उससे ऊपर उठ गई। 'कैसा अपराध?' उसने अपने से सवाल किया था।

'ज़िन्दगी को जीना है, ढोना नहीं' और उसने ज़िन्दगी जीनी शुरू कर दी। अपने लिए ही नहीं दूसरों के लिए भी वह दूसरों की ज़िन्दगी जीने लायक बनाने की जद्दोजहद में कूद पड़ी। यही सब बन गया उसके जीने का प्रेरक!

'मैं शाम को साढ़े सात बजे पहुँचूँगा।' राजेन्द्र ने कहा। वह चौंक गई। सपनों से लौट आई और विदा लेकर घर के लिए चल दी। साथ में गणेश था, जिसे मजदूरों ने उसकी देखभाल के लिए उसके साथ ही रहने के लिए भेजा था।

बचपन से ही आदत थी उसे दिवास्वप्न देखने की, जो बीच की जद्दोजहद में मर-सी गई थी। इधर दिल का दौरा पड़ने के बाद यह आदत फिर ज़िन्दा ही नहीं हो गई थी बल्कि बढ़ गई थी। वह घर जा रही थी, खाना बनाना है। घर में नौकर नहीं है। नौकर होने पर भी मित्रों को अपने हाथों खाना बनाकर खिलाना उसे बहुत अच्छा लगता है। उसे याद आया पटना के अपने फ्लैट में वह कैसे ज्ञान को अपनी पसन्द के खाने बना कर खिलाया करती थी। अपनी पसन्द के खाने बनाकर खिलाना और यह उम्मीद करना कि दूसरे उस खाने को पसन्द कर प्रशंसा करेंगे, उसे अच्छा लगता था। लोग प्रायः प्रशंसा किया भी करते थे। ज्ञान तो तारीफें करते न थकता था। ज्ञान उसके हाथ का बनाया खाना बहुत प्रेम से खाता था। एक-एक व्यंजन की व्याख्या करते हुए, जब वह मुग्ध होकर उसे देखते रह जाता, तो वह पागल हो उठती और फिर जग जाती थी दोनों की भूख। भूख जो हर इंसान में होना लाज़िमी है, जरूरी है। यही भूख तो सृष्टि की जननी है नहीं

नहीं सृष्टि का कारण है!

हाल ही में उसे अपनी बनारस की यात्रा याद आ गई। वह रिक्शे में बैठी दो महिला कवयित्रियों के साथ सराय की ओर जा रही थी।

‘अरे... ज्ञान तुम हो रे, मैं हूँ रे मैं, अरे मैं ही हूँ रे, मैं हूँ रे मैं। हाँ मैं ही हूँ रे, तू कहाँ था इतने दिन। मैंने तुझे खोजवाया था पर तू पटना में नहीं था। कितना सुन्दर लगता है रे तू सफेद पजामे और अचकन में। वही तीखी नाक, वही हल्की-सी दाढ़ी, वही कबूतर-सी चाल, कितने गोरे हो तुम, सुना है तुमने शादी कर ली... कैसी है तुम्हारी पत्नी? मुझे क्यों नहीं बताया तुमने? क्यों नहीं मिलाया उससे? तुम्हारी कलकत्ता वाली मित्र कहाँ है? साथ में कौन हैं यह अचकनधारी मियाँ जी बेडौल से? बड़े सज-सँवर कर गजरा लिए जा रहे हो! क्या कच्चे गोश्त की खोज में निकले हो?’ (बोलने का यह अन्दाज़ भी उसने ज्ञान से ही सीखा था।)

‘अरे तुम! तुम हो क्या री! यह सच है क्या? तुम ही हो न! हाँ वही तो हो तुम! बाल सफेद हो गए हैं पर चमक नहीं गई, दुबली हो गई हो पर रोशनी वही है, कमज़ोर हो गई हो पर अभी भी मुकाबला कर सकती हो। मैंने तो सोचा था कि तुम भूल गई होगी मुझे, पर...’

‘कैसे भूल सकती हूँ तुम्हें। जो दुःख तुमने दिया वह भुलाया जा सकता है क्या ज्ञान? सुख के दिन बिसर जाते हैं पर चोट नहीं भूलती। हर चोट अपना अलग-अलग निशान बनाती है, अलग-अलग निशान छोड़ जाती है। चोटों से भी प्यार हो जाता है न! तुमसे मैं मुक्त जरूर हुई थी पर तुम्हारी चोटों की कसक ढीली नहीं पड़ी। उन चोटों ने अभी भी मुझे जकड़ रखा है। वे दाग छूटे नहीं हैं, जो तुमने दिए थे। इन्हीं दागों को कुरेद कर मैं अब भी कभी-कभी हरा कर लेती हूँ।’ उसने यह सब अपने ही मन में कहा और सुना भी अपनी कल्पना में।

‘अरे यह तो ज्ञान है।’ प्रगट में कहा।

साथ जा रही कवयित्रियों ने कहा ‘उनकी सुसराल यहीं है। इन्होंने यहीं एक प्रोफेसर से शादी की है।’

‘क्या वे भी लिखती हैं?’

‘लिखती तो हैं। पहले तो वे सम्मेलनों में बहुत आती थीं, आजकल नहीं दिखतीं।’ वे बोलीं। उसने मन ही मन कहा ‘ज्ञान उसे फुर्सत देगा तब न।’

ज्ञान बहुत पॉजेसिव है, वह जानती है। वह स्वयं भी तो कम पॉजेसिव नहीं थी। ज्ञान की इसी कब्ज़ा-करण की प्रवृत्ति के प्रति तो उसकी आत्मा ने विद्रोह किया था। उसका व्यक्ति उसके सार्वजनिक जीवन पर हावी हो रहा था, इसलिए उसने अपने व्यक्ति का मोह छोड़ दिया और वह ज्ञान से मुक्त हो गई।

उसे याद आया पहले दिन जब ज्ञान शाम को टेलीफोन करने के बाद उसे मिलने आया था और उसने उससे मैत्री की इच्छा जाहिर की, तो ज्ञान की नज़रों से टपकती वह मुग्धा दृष्टि उसकी देह पर चिपक-सी गई थी। वह अपना टेलीफोन नम्बर देकर लौट गया था। वह उसे टेलीफोन करना भूल गई थी। एक दिन अचानक एक अत्यन्त ही नाटकीय दृश्य-सा आ उपस्थित हुआ था। वह सर्किट हाऊस से एक ऑफिसर से विस्थापितों की समस्याओं के बारे में बात कर, रिक्शे में मूसलाधार बारिश में आधा-पौनी भीगती हुई विधानसभा के गेट के बाहर निकल ही रही थी कि ज्ञान ने पुकारा। उसे लगा कोई कबूतर उसके कान में गुटर-गूँ कर गया। फिर वह कबूतर-सा ही फुदकता हुआ उसके पास आया। उसने हाथ बढ़ाकर ज्ञान का हाथ थाम लिया। उन हाथों में कबूतर के हाथों जैसी नरमी थी। ...कबूतर उसकी गोद में आ बैठा... फिर कन्धे पर बैठ उसकी गरदन को अपनी चोंच और माथे से बार-बार सहलाने लगा। उसने सुना 'आज घर पर रहोगी?'

'हाँ मैं इन्तज़ार करूँगी!'

'चलो!', उसने रिक्शा वाले को कहा।

वह उसी तरह लौट गया और फिर सांझ को उसने अपने दरवाज़े पर उस कबूतर के फड़फड़ाते पंखों की आवाज़ सुनी और यह सिलसिला बहुत लम्बा चला... एक दिन कबूतर उसके ही घर में घोंसला बना कर रहने लगा।

उसे याद आया... पूरा घर गुटर-गूँ से भर गया था! पंखों की फड़फड़ाहट ने उसका अकेलापन हर लिया था और वह कबूतर-सा घर में दबे-दबे पाँव चहलकदमी करता, उस पर इस तरह छा गया कि वह अपनी चाल ही भूल गई। वह घर के अन्दर बने उसके घोंसले में ही कैद-सी हो गई थी कि बस एक दिन उसने घोंसले को उठाकर घर से बाहर रख दिया और उस दिन वह घोंसला खाली हो गया। कबूतर उड़ गया था या उसी ने उड़ा दिया था उसे? वह आज तक न जान पाई,

न समझ पाई। तब उसने घोंसले के एक-एक तिनके को सहेज कर कहीं रख दिया ताकि फिर कोई उसमें न लौटे। घोंसला बनाने की, उसकी ज़िन्दगी का यह अन्तिम प्रयास था। दरअसल वह किसी घोंसले में समा ही नहीं सकती थी या यूँ कहा जाये कि कोई भी घोंसला उसे समा नहीं सकता।

‘पहले कहाँ जाना है घर या हाईकोर्ट?’ गणेश ने पूछा।

वह चौंकी, वह भूल गई थी कि वह रिक्शा में जा रही है।

“हाई कोर्ट” उसने सँभलते हुए कहा। वे इंडिया गेट पहुँचने वाले थे... कर्जन रोड पार कर रहे थे... पहले प्रकाश और बच्चे यहाँ रहते थे। बड़ी बेटी की शादी यहीं हुई थी। बड़ी बेटी सरू, देवदार जैसी लम्बी, बड़ी आँखों वाली, शक्ल-सूरत काफी कुछ दीप्ति नवल से मिलती हुई ! कल ही उसने फोन पर कहा था “अपना ख्याल रक्खो मम्मी। पापा की तो आदत ही ऐसी है, उन्हें कौन समझाए? खुद को तकलीफ मत दो। अकेले कहीं नहीं जाओ। पापा आपके साथ आने वालों को बर्दाश्त नहीं करते तो आप होटल में रहिए। पापा को कहना फिजूल है। उन्होंने सारी ज़िन्दगी ऐसे ही काटी है, अब कैसे बदलेंगे वे अपने आपको? मैं अब क्या करूँ मम्मी...? आपकी देखभाल करने के लिए मैं तो नहीं हूँ न आपके पास। आपको खुद ही अपना ख्याल रखना होगा। पैसे की चिन्ता मत करो। हम और भैया मिलकर आपके लिए खाता खोल रहे हैं। आपको पाँच हजार रुपया महीना सूद का मिलता रहेगा पर आप ख्याल रक्खो अपना। ...मत रोओ न मम्मी, आप तो रोने लगती हैं। बी हैप्पी अच्छा एक बार हँसो मम्मी।” सरू ने फोन पर ही आग्रह किया।

उसने रोते-रोते हँसने की चेष्टा की थी। गणेश ने झिंझोड़कर पूछा “क्या हुआ मम्मी क्यों रोती हैं आप?”

उसने महसूस किया कि उसके आँसू लुढ़क कर हाथ पर गिर गए थे। उसने झंपते हुए आँसू पोछे और फिर मज़दूरों के केस की चिन्ता में खो गई?

“अच्छा वकील साहब आप लोग केस देखिएगा, मेरा तो दस तारीख को आपरेशन होगा... पता नहीं बचूँगी भी या नहीं! मैं 28 अक्टूबर को ही अपनी गवाही दे रही हूँ। एक संतोष तो होगा कि मैंने

गवाही दे दी। मैं इस केस के खर्चे के लिए अपने बीमे की रकम का कुछ हिस्सा लिख दूँगी। मेरे पीछे गोपी केस देखेगा।” और वह रो पड़ी। आत्म-दया से उसका मन भर आया।

“रोइए मत आप, आपको कुछ नहीं होगा। हम आपको आश्वासन देते हैं कि अगर कुछ हो गया तो यह केस हमारा है हम लड़ेंगे इसे।” वकील साहब ने आश्वस्त किया था।

न जाने क्यों उसे लग रहा था कि समय कम पड़ता जा रहा है। बार-बार उसे ख्याल आता था कि उसकी माँ की मृत्यु 59 वर्ष की उम्र में हुई थी और बड़े भाई की 57 वर्ष की आयु में। वह भी 59 वें वर्ष में ही है। क्या वह उम्र की यह लकीर पार कर सकेगी?

क्या वह इस लक्ष्मणरेखा को तोड़ सकेगी जो परिवार में खिंच गई है? दस तारीख उसकी आँखों के आगे घूम गई।

उसे खून चाहिए। आठ लोगों को रक्तदान के लिए आना होगा, कौन देगा खून? गणेश देगा? हाँ गणेश देगा। क्या तरु खून देगी? उसने कई बार जताया भी कि दो तो वे लोग हैं ही यानी बेटी-दामाद! एक दिन तो तरु ने कह ही दिया था “हाँ मम्मी अनिल देगा और गणेश देगा... बाकी आप खोजिए।” उसे एक धक्का-सा लगा। अगर वह अभी बिहार के कोल-फील्ड में होती तो उसे खून देने के लिए कई लोग तैयार हो जाते सीता, रत्नू, गोवर्धन, भुवनेश्वर, लक्ष्मीसिंह, मिश्राजी और और भी कई लोग। उसे लगा वह मर रही है और मजदूरों की एक जमात उसे रक्त देने के लिए बाँहें बढ़ाकर खड़ी है। सीता रो रही है। गुन्नी, सोहराय, लिखी, दुबराज माँझी सब बिलख रहे हैं। एक भारी मजमा बाहर जमा है। उसे इस बात का संतोष था कि वे सब लोग, जिनसे उसका खून का कोई रिश्ता नहीं था, उसे खून देने के लिए तैयार हैं। शहर के नामी लोग भी जमा हैं। उसके दुश्मन, जिन्हें उसकी वजह से बहुत नुकसान उठाना पड़ा, भी खून देने आ पहुँचे हैं!

“आखिर तो एक बहादुर औरत है वह। जिद की पक्की है। सारी जिन्दगी गरीबों के लिए लड़ते गँवा दी”, वे कह रहे थे।

“हमारा नुकसान तो बहुत हुआ पर बहुत लोग आजाद भी तो हो गए।”

ये सब कोलियरियों के पूर्व ठेकेदार थे, जो खदानों के मालिक थे ! कभी ये लोग उसे जान से मारने के लिए तत्पर रहा करते थे। उनसे न

उसका खून का रिश्ता था, न मित्रता का पर आज वे भी उसकी जान बचाने को अपना खून देने को तत्पर थे।

उसे साहस नहीं हो रहा था कि अपनी बेटी तरू से इस बारे में कुछ कहे। अगर उसने ना कर दी तो? वह अपने को धोखे में रख रही थी इस आस में कि वह खुद ही आकर उससे कहेगी।

‘मम्मी, हम दोनों खून देंगे आपके लिए।’

मन में कहीं कुछ सिसक रहा था। वह सिसकी को रोक कर सहज बनने की चेष्टा कर रही थी। वह मुस्करा कर तरू की बात को अनसुनी कर रही थी। वह चाहती थी कि न गणेश कुछ सुने और न ही कोई और। प्रकाश की उमर अधिक थी इसलिए उनका खून नहीं लिया जा सकता था। उसने खुद ही इस सब पर पर्दा डालने का तरीका निकाला और ढूँढ़ा एक बहाना। उसने खुद ही तरू से कहा “‘तुम्हें तो डायबटीज़ है न तरू... तुम्हारा खून नहीं चलेगा।’”

हालाँकि डाक्टर कह चुका था कि डायबटीज़ होने से फ रक नहीं पड़ता। बाद में पता चला वह गर्भ से थी इसलिए खून देने के लिए उसने नहीं कहा पर उसने माँ को यह बताना भी जरूरी नहीं समझा कि उसे बच्चा होने वाला है।

वह हाईकोर्ट से बाहर आई। थोड़ा ही चली थी कि उसकी छाती पर भार पड़ने लगा! वह हाँफने लगी। सिर में तेज दर्द शुरू हो गया। वह सोच रही थी “क्या वह घर पहुँच भी पाएगी या...?” अभी तो विल (वसीयत) ठीक करनी है। इंश्योरेंस का नॉमिनेशन बदल कर गणेश, रीता और मिश्राजी के नाम करने के साथ-साथ, बाकी पैसे मज़दूरों के केस के लिए आवंटित करने हैं। क्या सब खेल खत्म हो जाएगा?”

उसे लगा जैसे वह मर गई है। उसका बेटा उमंग अमरीका से पहुँच गया है। हवाई जहाज से उसका शरीर लाल झंडे में लपेटकर उसके कर्मक्षेत्र हजारीबाग ले जाया गया है। यूनियन कार्यालय में सबने सलामी दी। सभी साथियों ने उदास नज़रों से उसका शव उठते देखा। हजारीबाग से खबर कोयलांचल में फैल गई है। सीता रोती-रोती काम छोड़कर चल पड़ी है। मज़दूर घरों के बाहर आ गए हैं... अपार जन-समूह जमा है... हजारीबाग से कोलियरी पहुँचने तक जगह-जगह गाड़ी रोकी गई। उसका बेटा साथ में बैठा है साथ में पार्टी के साथी भी हैं। चौक जहाँ उसने पुलिस से मुकाबिला किया, ठेकेदारों से

डटकर लड़ी, जहाँ वह बरसात में छाता लेकर झोंपड़े में बैठ-बैठ कर रात गुजार देती थी उसी चौक में उसका शव लाया गया! एकाएक हजूम से एक दारुण सिसकी उठी...! सिसकियों का ताँता लग गया। एक चीख उठी और न जाने कितनी सीताएँ दहाड़ कर रो उठीं।

वह सड़क के किनारे फुटपाथ पर बैठ गई थी और सिसक रही थी। उसे स्वयं रूलाई आ रही थी। गणेश इसी बीच टैम्पू ले आया और उसे उठाते हुए बोला “रोइये मत, ठीक हो जाइयेगा चलिए।”

वह घर जाने के लिए टैम्पू में बैठ गई। न जाने कितनी बार वह अपने मरने का दृश्य देखकर रोई है। उसे याद आया कि एक बार उसने सपने में देखा...

वह रेल में सफर करते हुए मर रही है। उन दिनों वह सेकेंड क्लास में सफर किया करती थी। सभी यात्री उसे घेरे खड़े हैं। वह एकटक देख तो रही है पर बोल नहीं पा रही। वह अपने साथ अपनी डायरियाँ, कविताओं की कापियाँ, यूनियन और कोर्ट की फाइलें हमेशा लेकर चलती थी। ट्रेन में बैठे यात्रीगण डायरी में उसका नाम पढ़ कर जान गए कि वह कोई विधायक थी। वे यह भी जान गए थे कि वह कोई कवयित्री भी थी। दरअसल मरने से पहले वह ट्रेन में जो लिख रही थी, वह कविता ही थी। मुक्तिबोध की कविताओं की एक किताब भी उसके झोले में मिली थी। स्टेशन पर गाड़ी रुकी। वहीं उसे उतार लिया गया। गाड़ी चल दी। स्टेशन पर उसकी लाश लवारिस पड़ी थी। वह मर गई थी पर उसे तो कोलियरी में ले जाकर ही जलाया जाना था। उसके बेटे का उसके पास रहना जरूरी था। जलने से पहले मज़दूरों से बिना मिले वह कैसे मर सकती थी। ...उसने सपने के अन्त को सुधार लिया। उसकी लाश दूसरी गाड़ी से कोडरमा भेज दी गई, जहाँ का टिकट था। वहाँ सभी उसे पहचानते थे। वहाँ से उसे बस से हजारीबाग लाया गया। ...सपना टूट चुका था और वह कल्पना में ही सपने के अन्त में तब्दीली करती जा रही थी।

न जाने क्यों उसे मरने का ख्याल आते ही बार-बार रूलाई आती रहती है। वह तो कभी मौत से डरी नहीं। पुलिस हो, ठेकेदार हों या गुंडे, वह हमेशा चुनौती स्वीकार कर उनसे लड़ी है। वह रोई नहीं। हिम्मत नहीं हारी, फिर वह मरने की याद कर क्यों रोती है? उसने

अपने से पूछा। शायद वह इस तरह मरना नहीं चाहती। बचपन से ही वह उपेक्षित रही, असुरक्षित रही। इसलिए अब जब अपना निर्णय ले सकने की ताकत उसमें आई तो उसने संघर्ष का रास्ता पकड़ा, जोखिम उठाए, फैसले लिए। फिर अब बिना उसके फैसले लिए ही यह मौत क्यों बीच में आ जाना चाहती है? अभी तो उसे बहुत कुछ करना है। लाठियाँ खाते हुए या गोलियों के बीच से गुज़रते वक्त उसने कभी भी चिन्ता नहीं की कि आगे क्या होगा? बिस्तर पर लेटकर मौत का इन्तज़ार करना कितना भयावह है!

परिवार को उसने कभी प्राथमिकता नहीं दी। दूसरों को ही दी। क्या इसीलिए परिवार के लोग उसकी परवाह नहीं करते? देखो न जब एंजीओग्राफी कराने अस्पताल में भर्ती होने गई तो तरू साथ नहीं गई। प्रकाश भी नहीं गए। दोनों के अपने-अपने काम थे। शायद दस तारीख को आपरेशन कराने के समय भी कोई साथ नहीं जा पाएगा। केवल गणेश ही होगा साथ। बड़ी बेटी सरू होती तो वह जरूर साथ आती। उस दिन तरू की बातें सुन कर राजेन्द्र बौखला गए।

“मेरे बच्चे ऐसा करते तो मैं निकाल देता घर से कहता गेट आउट! तुम फ्राड हो मणिका! मजदूरों की सेवा करती हो और घर के लोगों से मोह पालती हो... वह भी ऐसे लोगों से, जो तुम्हारे लिए छुट्टी भी नहीं ले सकते। तुम फ्राड हो, पूरी फ्राड!”

वे बिगड़ कर बोले थे।

वह कैसे सहती है यह सब यह वही जानती है पर किससे गिला करे, कौन है उसका?

“क्यों चिन्ता करती हो? यह देखो गणेश... यही लोग हैं, यही तुम्हारे मित्र हैं। तुम इन्हीं में से कुछ को साथ लेती आओ न! वे तुम्हारे लिए जान दे देंगे। तुम क्यों उन पर अपना प्यार जाया करती हो, जिनके पास तुम्हारे लिए समय नहीं है?” वे बोले।

वह सोच में पड़ गई। उसका विश्वास टूट-सा रहा था। ‘क्या वे लोग भी उसकी चिन्ता करेंगे। वे लोग जिनके लिए उसने लड़ते-लड़ते जीवन बिता दिया? क्या वे भी खून के रिश्ते की तरह ही हो जाएँगे?’

कई प्रश्न उसे मन ही मन मथ रहे थे।

“ठीक ही तो है। खून के रिश्ते से मित्र का रिश्ता बड़ा होता है। खून के रिश्ते में तो ज़मीन के लिए या किसी स्वार्थ के लिए भाई ही

भाई का खून कर देता है। बस मित्र ही निःस्वार्थ साथ देते हैं।” वह राजेन्द्र से बोली।

वह सोच में पड़ गई! क्या उसका मित्र है कोई? उसे फिर रुलाई आ गई। ज़िन्दगी भर वह अकेली रही। क्या जीवन में उसे कभी यह एहसास हो पाएगा कि कोई उसका भी है?

प्रकाश को फुर्सत नहीं, बेटी के पास वक्त नहीं, माँ का रिश्ता शायद अब उतना महत्त्व नहीं रखता। सीता की तो वह माँ नहीं, फिर वह क्यों रोती है उसके लिए? रत्नू, लिक्खी राम और सोनसाय की तो वह कुछ नहीं लगती... फिर वे क्यों कहते हैं कि “मैय्या बूढ़ी हो जाएगी तो भी हम कान्ध पर बहँगी में डालकर बोहेंगे पर छोड़ेंगे नहीं हम तुमको मैय्या।” उन्हें क्यों इस अशक्त शरीर पर अभी भी विश्वास है कि वह बहुत कुछ कर सकती है, अभी भी।

“तोर छोड़ के हम कहीं नहीं जायब माँ। तोर चरण धूरि में रहब तू उबार चाहे डुबा।” भगऊ आया था न उस दिन! वही कह रहा था ये सब। वह कैसे उसे समझाती कि अब उसमें घूमने की पहले जैसी शक्ति नहीं रही? उन्हें विश्वास है कि वह हजारीबाग में खटिया पर भी पड़ी रहेगी तो प्रबन्धन उसका नाम सुनकर डरेगा और मज़दूरों का काम कर देगा। इतना विकट विश्वास! इसी विश्वास के लिए तो वह अपनी जान की बाजी लगाती रही है। आज इस बीमार शरीर के साथ इस विश्वास को कैसे ढोए? यह चिन्ता उसे बेबस कर देती थी और वह चिड़चिड़ी हो जाती थी।

वह कहती “मत आओ तुम सब अब मेरे पास। तुम्हारा काम खराब हो जाएगा अगर मेरे भरोसे रहोगे। फील्ड जाकर वहाँ हमारे नेताओं से बात करो। उनसे नहीं होगा तो वे मेरे पास आएँगे। शरीर ने साथ दिया तो मैं मदद कर दूँगी। मैं अब उतना चल-फिर नहीं सकती कि आधी रात को भी उठ कर चल दूँ, कि ट्रक में चढ़कर पहुँच जाऊँ। तोड़ दो इस विश्वास को। मत करो मुझ पर विश्वास। यह विश्वास तुम्हें नुकसान पहुँचाएगा तुम्हारा काम नहीं होगा। तुम लोग मेरे भरोसे रहोगे और मैं कुछ कर नहीं पाऊँगी।”

वह बड़बड़ाती रहती। मज़दूर बेबस उसकी तरफ देखते रहते जैसे पूछ रहे हों ‘अब कहाँ जाएँ?’

“तू मर जाईब माता तो तोर लोथ (लाश) के कान्धे ले घूमब पर

दूसर ठिन (दूसरे के पास) न जाब। हमर एक बाप है दो बाप नाई” वे जोश में आकर बोलते। वह उसी बीमार हालत में उनके लिए पत्र लिखने बैठ जाती या गाड़ी में बैठकर जनरल मैनेजर या सी. एम.डी. से मिलने चल देती। मजदूरों के इस विश्वास को तोड़ना उसके लिए कठिन था। जब वह देखती कि मजदूर लड़ना चाहते हैं पर उसके साथी संघर्ष छोड़ चुके हैं और कोई खतरा मोल लेकर नेतृत्व सँभालने वाला नहीं है, तो उसे भयंकर वेदना होती।

‘घोंसला टूट रहा है... तिनके उड़ रहे हैं। सँभाल पाना मुश्किल है।’

वह बूढ़े घायल शेर की तरह गुर्राती। किसी को घायल नहीं कर पाती, इसलिए अब वह केवल गुर्राती थी। अब उसकी गुर्राहट का असर कम हो रहा था, इसका उसे अहसास हो गया था।

उसने कभी ज़िन्दगी में समझौता नहीं किया था। अब उम्र के इस मोड़ पर वह दूसरे टैक्ट, दूसरी रणनीति कैसे अपनाए? इसलिए उसने निर्णय लिया था कि वह आपरेशन करवा ही लेगी। इस पार या उस पार। सिर पर मौत की डैमस्कस की तलवार का भय तलवार की धार के जख्म से अधिक दर्दनाक था। दस तारीख में एक-एक दिन घटाती, वह दिन गिनती रहती थी। अभी बहुत कुछ लिखना बाकी था। वह सब कुछ लिख डालना चाहती थी अपनी पूरी जिन्दगी उकर देना चाहती थी कागज पर! वह कहानी लिखने बैठती तो उपन्यास की रूपरेखा उभर आती। वह क्षणों को बाँधने बैठती तो पूरा जीवन चलचित्र सा घूम जाता, किन क्षणों को बाँधे, किनको छोड़े, वह फैसला नहीं कर पाती। वह लिखना बन्द कर देती। पर आज उसने निर्णय लिया था लिखने का निर्णय।

उसे बम्बई के लिए हवाई जहाज से आज ही रवाना होना था। वह हाईकोर्ट से अपने ‘घर’ गई। सामान उठा कर सोचा छोटी बेटी तरू के घर हो ले। ऑटो किया और वहाँ जा पहुँची। तरू घर पर नहीं थी। गणेश ऑटो से सामान उतार कर पड़ोसियों को खोजने लगा कि पता लगा सके कि तरू कब तक लौटेगी? तभी वह अपने पति के साथ कार में आ गई।

“नहीं मम्मी हमारे घर आज मेहमान आए हैं, आप वहाँ सामान मत ले जाओ। गाड़ी में ही रहने दो सामान। आप अकेले ऊपर जाओ, घर में बैठो।”

तरु जान कर भी जानना नहीं चाह रही थी कि ऊपर चढ़ना उसके लिए कितना कष्टदायक है। गणेश की गाड़ी पहले जाती थी। वह स्टेशन किस प्रकार जाएगा तरु ने इस पर, न कुछ सोचा, न ही कुछ कहा। उसकी चाहना थी कि काश तरु कह दे कि 'मेरी कार से चलो मम्मी, हम छोड़ आएँगे।' पर तरु तो कार से शॉपिंग करने जा रही थी। मम्मियाँ तो रोज आती-जाती रहती हैं। क्या जरूरत है मम्मी जैसी गैरजरूरी चीज़ को एयरपोर्ट पहुँचाने की। तरु चली गई। वह गणेश के साथ ही दो घंटा पहले ऑटो से चल दी और गणेश को निजामुद्दीन स्टेशन छोड़ कर एयरपोर्ट पहुँची। उसकी साँस बार-बार उखड़ जाती थी सिर में एक दर्द उठता था यह एक नई बीमारी थी शायद। एक सरदार जी ने उसे अपने समान से जूझते देखा तो उसका सामान सीढ़ी पर चढ़ा कर प्लेन में रख दिया वह निढाल सीट पर आ बैठी और लिखना शुरू कर दिया।

बाहर सूरज अपनी पूरी शर्म को समेटे लाल-लाल होकर डूब रहा था उसके चेहरे के गिर्द कालिख पुतली जा रही थी।

“अब हम राजस्थान के रेगिस्तान को पार कर रहे हैं।” पायलट ने घोषणा की।

उसने बाहर झाँका। लाल और काला छोड़कर कुछ नज़र नहीं आया। वह मुक्तिबोध को पढ़ने लगी। उसे लगा अच्छा किया कि उसने पढ़ ली यह पूरी किताब, अगर बिना पढ़े मर गई होती तो अफसोस रह जाता पर मरने के बाद अफसोस करने के लिए वह रहती ही कहाँ? खैर, उसे लग रह था जैसे उसके ही अहसास, भावनाएँ और विषय मुक्तिबोध की कविताओं में भरे पड़े हैं। बबूल पर उसने भी सोचा है, लिखा है मुक्तिबोध ने भी। कैसे उनसे उसकी पूरी की पूरी भावनाएँ मिलती-जुलती हैं? 'क्या उसकी रचनाएँ प्रकाश में आए बिना ही रह जाएँगी? उसकी रचनाओं की चर्चा उसके मरने के बाद भी होगी... या नहीं?' यह सोच कर वह सशंकित हो उठी।

वह फिर दिवास्वप्न में डूब गई। प्लेन एकसीडेंट कर गया है उसकी लाश को लोग पहचान नहीं पा रहे... उसकी सारी कविताएँ और इधर की रचनाएँ जो उसके साथ थीं, जल गई हैं। कोई बाद में भी अब क्या छापेगा जब सब जल ही गया। वह अपनी ही लाश को देखकर रुआँसी हो गई, और सोचने लगी 'काश मैंने अपनी मूल डायरी गणेश

को दे दी होती...!’ उसे अपनी इस लापरवाही पर गुस्सा आ रहा था। सब रचनाएँ अपने साथ लेकर, खासकर पांडुलिपियाँ साथ लेकर नहीं चलना चाहिए। वह तरकीब सोचने लगी कि वह कैसे हवाई जहाज की खिड़की तोड़कर कविता वाला बैग बाहर फेंक दे कि वह जलने से बच जाए।

“कृपया अपनी-अपनी बेल्ट बाँध लीजिए, हम बम्बई पहुँच रहे हैं।” घोषणा हुई। वह चौंक कर चारों तरफ देखने लगी। प्लेन सही सलामत उतर रहा है। एयरपोर्ट से बाहर आकर वह बस में बैठ गई। पूरे रास्ते वह एक पौसैस्ड व्यक्ति की तरह सोचती जा रही थी। वह काफी उदास थी।

तरु के कल रात के व्यवहार से उसे धक्का लगा था। दरअसल जो अपेक्षाएँ माँ-बाप करते हैं अपने बच्चों से वे पूरी न होने पर दुःख होता है। सारा झमेला ‘अपेक्षा’ का है। इसलिए अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए किसी से अपनों से भी नहीं। वह तो बच्चों से घर से अलग ही रही है फिर उसने अपेक्षाएँ क्यों पालीं! वह बार-बार अपने को ‘दूस’ रही थी। उसने ‘अपेक्षा’ न करने का फैसला दोहराया जो वर्षों पहले उसने लिया था। उसे ऐसा लग रहा था कि जैसे वह एक ट्रांस में है। विचार पर विचार आ-जा रहे थे। चल-चित्र की तरह घटनाएँ जेहन में घूम रही थीं। वह चलते-चलते भी मन ही मन बातें करती जा रही थी। वह चाहती थी कि लिख ले अपनी पूरी जिन्दगी नहीं तो उसकी कुछ झलकें ही। वह दिल्ली से मुम्बई आते हुए उस दिन बस या हवाई जहाज में सतत् लिखती रही थी। वह हवाई अड्डे से सुनील के घर आते वक्त टैक्सी में बैठे-बैठे, मन ही मन अपने लेखन में कुछ न कुछ और जोड़ते जा रही थी।

उसे दस नवम्बर से पहले ही सब कुछ लिख लेना था। उसने कोलाबा में उतर कर टैक्सी ली। बहन के लड़के के घर जाना है, जो नेवी में कमांडर है। कल डॉक्टर को दिखाना है। गॉल ब्लाडर का ऑपरेशन अगर पहले हो सके तो शायद हार्ट का ऑपरेशन करवाना ही न पड़े। एक असम्भव-सी सम्भावना मरुभूमि में पानी की रेख सी चमक उठती थी जिसे वह खुद ही रद्द भी कर देती थी। भ्रम की यह रेख उसे बार-बार दस तारीख की लक्ष्मणरेखा से दूर ले जाती थी, इसके बावजूद दस तारीख फिर उभर आती थी। चलते समय वह डॉ. त्रेहन

से कहकर आई है कि वह दस तारीख को ऑपरेशन कराने जरूर आएगी।

...डॉक्टर ने यह प्रश्न पूछा था कि “क्या विचार बदल दिया है आपने?”

“नहीं आपरेशन तो करवाना ही है पर बम्बई वाले डाक्टर को दिखाने के बाद।” उसने कहा था। आपरेशन जरूरी है तो होना चाहिए। जब ऑपरेशन उसे गैर-जरूरी लगने लगता तो वह उसके जरूरी होने के तर्क गढ़ने लगती और जब ऑपरेशन जरूरी लगने लगता तो वह उसे गैर-जरूरी साबित करने में लग जाती। इसी तरह उधेड़बुन में उलझी वह कभी वर्तमान, कभी अतीत, तो कभी भविष्य में होने वाले आपरेशन के दिन की सोच में डूब जाती थी।

वह कहाँ आपरेशन करवाए? क्या दिल्ली में ही? दिल्ली में उसे कोई पूछने वाला नहीं है। पूछने के लिए मित्र, लेखक, पार्टी के लोग और कार्यकर्ता तो बहुत हैं पर घर के लोग...? घर के लोग तो हैं, घर भी है पर घर के लोगों को उसकी दरकार नहीं है। तो क्या करे वह? लोगों के सामने घर का भ्रम बरकरार रखना उसकी मजबूरी बन गई है। उसके लिए घर का मुखौटा लगाना जरूरी हो गया है। वह जानती है पार्टी के सब साथी मदद करेंगे। वह जब भी दिल्ली आती थी तो सी.आई.टी.यू. के कार्यालय में ही रहा करती थी। यह तो जब से प्रकाश ने लाजपत नगर में किराए पर घर ले लिया है, तब से वह वहाँ आने लगी है। दिलशाद गार्डन वाले घर जाकर वह कभी भी प्रकाश के साथ नहीं ठहरी थी। लोगों को क्या कहेगी? घर है पर घर में रह नहीं सकती। बेटी तो है पर बेटी को उसकी देखभाल के लिए समय नहीं। बेटी के पास गाड़ी है पर छुट्टी के दिन भी गाड़ी उसे हवाई अड्डे छोड़ने नहीं जा सकती। घर में किसे मिलने के लिए बुलाना है, किसे नहीं, इसके लिए भी इजाजत लेने की जरूरत पड़ती है। कोई मिलने आ जाय तो उससे अछूत का सा व्यवहार किया जाता है। वह कुढ़कर रह जाती है पर सहती है।

बाहर वालों के आगे वह इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार को छिपाने या उसे जस्टिफाई करने का बहाना खोजती है पर अपने मन को किस बहाने से समझाए? वह उपेक्षा भरा व्यवहार, वह घृणा का आचरण, वह हेय दृष्टि, उसे अत्यन्त मानसिक वेदना पहुँचाती है। वह बोलती

नहीं। बोलने से लड़ाई होगी? गणेश क्या कहेगा? हालांकि वह अब सब जान गया है। जो लोग उसमें कुछ आस्था रखते हैं, उन्हें कैसे कहे कि घर के लोग उनसे नफ़ा रत करते हैं। आज इस सवाल का जवाब खुद उसे ही कटघरे में खड़ा कर रहा था।

डॉ. त्रेहन को बुरा न लगे क्या इसलिए ऑपरेशन कराना है उसे? उसने अपने आप से पूछा। फिर खुद ही जवाब दिया 'ऑपरेशन जरूरी होगा तभी न कराया जाएगा।' यह तो ज़िन्दगी का मामला है। डॉक्टर को अच्छा या बुरा लगने का ख्याल करे तो ऑपरेशन नहीं हो सकता न! वह मन ही मन बहस कर रही थी। वह मजदूरों के विश्वास और आस्था के कारण ही घर की उपेक्षा करके भी आन्दोलन करती है। वह चाहती है कि उसके द्वारा की गई घर की उपेक्षा को उसकी कुर्बानी और त्याग में शामिल किया जाए ताकि उसका आदर बढ़े लेकिन उसकी बजाय घर के लोग उसे हेय दृष्टि से देखते हैं।

“जाओ जिनके लिए जीती रही हो उन्हीं से मदद माँगो, उन्हीं से स्नेह और प्यार माँगो ! हमें तो तुमने कभी कुछ दिया नहीं न! हमसे उम्मीद मत रखो। हमारे भी अपने ढेर सारे काम पड़े हैं। हम भी बहुत व्यस्त हैं। हमें तुम्हारे लिए फुरसत नहीं है। क्या तुमने इस घर को सराय मान लिया है कि जिसे-तिसे लिए चली आती हो? एक से ज्यादा आदमियों को अपने साथ मत लाओ। एक आदमी भी इसलिए कि तुम बीमार हो, तुम्हारी देखभाल के लिए कोई चाहिए, वरना तो तुम अकेली ही आओ तो अच्छा होगा। हमने अपनी ज़िन्दगी तुम्हारे बिना ही अकेले गुजार दी, अब इस घर में किसी को तुम्हारी जरूरत नहीं।” बातों ही बातों में उसे समझाया जाता।

वह नेवी नगर आ गई थी। बहन के बेटे के घर का पता पूछ ही रही थी कि सुनील ने आवाज़ दी “मौसी टैक्सी रोको।”

वह घर पहुँची। इतना स्नेह, इतना प्यार दिया सुनील और उसकी पत्नी सुनीता ने कि उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि यह सच है। उसने उसके आराम का, सोने का, लिखने-पढ़ने का सब इन्तजाम कर रखा था। उनका इतना प्यार पाकर उसे दस तारीख दूर खिसकती नजर आने लगी। 'दस तारीख' की वह आवाज़ जो उसके जेहन में रिकार्ड की तरह बार-बार बज रही थी भूल गई थी। आज वह आवाज़ मन्द पड़ गई थी। अगले दिन जब वह सबेरे उठी और नाश्ते

के बाद सुनील उसे दफ्तर से छुट्टी लेकर डॉक्टर के पास ले गया उसे लगा दस तारीख मिट रही है। इतना प्यार तो शायद उसका बेटा भी नहीं देता। नहीं नहीं! उसे विश्वास था कि उसका बेटा भी उसे जरूर उतना ही प्यार देगा। इस समय सरू भी उसे ढेर सारा प्यार देती। वह तो बहुत दूर है। तरू प्यार करती है पर अपनी सुविधा पर, अपनी शर्त पर। उसे लगा खून का रिश्ता जब दूर का होता है तो अधिक मित्रवत् हो जाता है। शायद पास वाले खून के रिश्ते डाह और ईर्ष्या से ज्यादा ग्रसित होते हैं। पर बेटी? पति? खैर छोड़ो, यह सब!

वह मज़दूरों का नेतृत्व करती रही है। घर का मोह छोड़ा है। दूसरों के लिए जीने का मकसद तय किया है। घर का विरोध सहा है। समाज का, सहयोगियों का, निहित स्वार्थों का विरोध भी झेला है। वह उनके विरोध के सामने नहीं झुकी तो अब उन रिश्तों का मोह क्यों दर्द पैदा करता है?

उसे फिर राजेन्द्र के शब्द याद आए “तुम फ्राड हो क्यों घर के लोगों के मोह में पड़ी हो। तुम्हारे मित्र तुम्हारा साथ देंगे, तुम्हारे मज़दूर तुम्हारे लिए मरेंगे, खून देंगे। वह तुम्हारी देख-रेख करेंगे।”

“क्या मैं घर वापस लौट रही हूँ? घर जिसे मैंने वर्षों पहले छोड़ दिया था? शायद नहीं! वहाँ लौटना क्या ठीक होगा? पर बेटा? उसका मोह? वह मेरी बीमारी का पूरा खर्च वहन कर रहा है।” उसने खुद से पूछा।

“मम्मी मेरा सारा पैसा आपका है। आप दुःख मत सहो।” बेटे की आवाज़ उसके कानों में गूँज रही थी।

“मैं आन्दोलन बन्द कर, घर में बैठकर आराम नहीं कर सकती। संघर्ष करते हुए मरना चाहती हूँ। मेरा काम करने का तरीका कुछ सुविधापूर्ण हो जाए तो शायद ज्यादा दिन जी सकूँगी।” उसकी अपनी ही आवाज़ उत्तर बन कर कुछ कह रही थी।

“तो ठीक है मम्मी! आप सेकेंड क्लास में मत जाओ। बस में मत चढ़ो। हवाई जहाज में जाओ, ए.सी. में चढ़ो। मैं खर्च दूँगा। अपने लिए चन्दा मत माँगो। संस्था के काम के लिए जो मर्जी कीजिए पर अपना ख्याल भी रखिए।” बेटे की आवाज़ जैसे उसे आश्वस्त कर रही थी!

वह दुविधा और आश्वासन, शंका और विश्वास में ऊबती-डूबती डॉक्टर के यहाँ पहुँची।

डॉक्टर ने कहा “पहले दिल का ऑपरेशन जरूरी है, वही करवाईये।” बड़ी ही ईमानदारी से डॉक्टर ने राय दी “में निदानवे प्रतिशत गारंटी के साथ बिना हार्ट का ऑपरेशन किए गॉलब्लाडर का ऑपरेशन कर सकता हूँ पर उससे आपको पूरा आराम नहीं होगा। दिल की बीमारी रह ही जाएगी।”

डॉक्टर ने कुछ इस लहजे में कहा कि मणिका को उसकी राय पर विश्वास हो गया। उसे लगा वह ऑपरेशन के बाद भी ज़िन्दा रहेगी। अब दस तारीख तो अप्रासांगिक हो गई थी अब तो बस उलझन यही थी कि कहाँ ऑपरेशन हो बम्बई में या दिल्ली में? इस उलझन के बावजूद उसके दिमाग में दस तारीख का बोझ उतर चुका था। सुनीता उसे बम्बई में ऑपरेशन की राय दे रही थी। वह उसे आश्वस्त कर रही थी कि वे दोनों पति-पत्नी उसकी पूरी देखभाल करेंगे। उनके घर में बहुत शान्ति थी। सभी उसे प्रेम, स्नेह और आदर देते थे। सुनील ने ही डॉक्टर की फीस भी दी थी। टैक्सी का भाड़ा तक उसी ने दिया था। यहाँ तक कि रात को सुनीता ने अपनी कीमती नाइटी भी निकाल कर उसे पहनने को दी। वे लोग उसे डिनर के लिए होटल ले गए। सुनीता ने अपनी अच्छी-सी साड़ी निकाल कर उसे पहना दी थी। जिस स्नेह, आदर और केयर की वह भूखी थी, वह सब उसे मिल रहे थे। दस तारीख का डर कम होता जा रहा था।

आज उसके पास लिखने के लिए अफरात समय था। जिस दिन वह यहाँ आ रही थी, उस रात वह रात भर में पूरी जिन्दगी लिख डालना चाहती थी। ऑपरेशन के बाद यहीं आकर उसने आराम करने का निर्णय लिया और योजनाबद्ध तरीके से लिखने का भी मन बनाया। जिन्दगी के भयंकरतम झटके को एक स्नेह ने थाम लिया था। मौत की काली परतों को प्यार के इन पलों ने धो दिया था। ‘वह जिएगी अभी’ ऐसा विश्वास एक सद्यः जन्मे शिशु की तरह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा था लेकिन यह रोना दुःख का नहीं था... वह था एक अहसास, एक अचम्भा, एक कौतुक!

